क्षणिक का बोध
और
नित्य का अनुभव

लेखक
पंडित फूलचंद शास्त्री

हिन्दी अनुवादक
वस्तुपालभाई जैन

प्रकाशक
आध्यात्मिक साधना केन्द्र
श्री श्याम स्मारक ट्रस्ट
उमराला, जि. भावनगर (गुजरात)
फोन- ०२८४३-२३५२०३

क्षणिक का बोध और नित्य का अनुभव

क्षणिक का बोध और नित्य का अनुभव होना ही आत्मसाक्षात्कार है। कल्पनालोक में विचरण करनेवाले विचारको की यह काल्पनिक रचना नहीं है, बल्कि ज्ञानियों के जीवन सरोवर में डूबकी लगाकर अपूर्व पुरुषार्थ के वल से अनुभव किया हुआ सत्य है। लेखक या कवि तो सोच के सागर में डूबकर न जाने कैसे-कैसे मोती निकाल लेते है। कहा भी है कि जहां न पहूंचे रवि, वहां पहूंचे कवि। लेखक या कवि एक क्षण में राय को पहाड के रुप में प्ररुपित कर देते है। कवि की कल्पनाशक्ति निराली हो सकती है, परंतु कल्पनातीत निर्विकल्पदशा तो सिर्फ ज्ञानियों की ही होती हैं।

जो इस पल में है, वह दुसरे पल में नहीं है। जो दुसरे समय है, वह तीसरे समय नहीं है। पल-पल में पलटते हुए जगत के स्वरुप को जानते हुए भी अज्ञानी को जगत के क्षणिकपने का बोध क्यों नहीं होता? उसका विचार करने पर आश्चर्य होता है। अज्ञानी जीव आत्मा के नित्यपने को भूलकर जगत के क्षणिकपने को नित्यरुप में क्यों अनुभव करता है? उन्हें एसा क्यों नहीं लगता कि क्षणिक जगत में लिप्त होकर नित्य आत्मा को भूल जाना यह महा अपराध है।

अज्ञान से अंध अज्ञानी जगत के क्षणिकपने में रच-पचकर उसमें ही सुख लेने के बदले में नित्य आत्मा को गंवा रहा है। वह राख के लिए रत्न को जला रहा है।

हे अज्ञानीजनो! जिन्होंने महलों में रहकर अपने जीवन में मखमल जैसे मुलायम गालीचे से नीचे पैर नहीं रखा था, एसे मुलायम देहधारी राजकुमारों ने भी जब गालीचे से नीचे पैर रखा, तो वन-पहाड के कांटे और पत्थरों में रखा। आत्मज्ञान और वीतरागभाव के बल पर उन्होंने स्वयं को कांटे और पत्थरों में सुखी पाया। जगत के क्षणिकपने का एहसास होते ही उन्होंने क्षणिक जगत को त्याग दिया। अनंत मूर्ख द्धारा चुने गये मार्ग पर न चलकर, ज्ञानियों द्धारा चुने गये मार्ग पर वे चल दिये।

जिसप्रकार भोजन की चर्चा करने मात्र से या विभिन्न प्रकार के पकवान के नाम पढने मात्र से भूख नहीं मिटती। अपनी भूख मिटाने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं भोजन करना पडता है। उसीप्रकार मुनिराजों की चर्चा करने मात्र से या शास्त्रों द्धारा मुनिराजों के मूलगुणों का स्वरुप जान लेने मात्र से मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती। मुक्ति की प्राप्ति के लिए प्रत्येक जीव को स्वयं मुनि होना अनिवार्य है। नदी में बहते हुए पानी की तरह मनुष्यभव प्रतिपल बह रह रहा है, इसलिए हे अज्ञानी जीवों! परपदार्थो से विरक्त होकर निज आत्म स्वभाव पर द्रष्टि करो।

परपदार्थ को अपना मानकर परपदार्थ का त्याग करना, वास्तविक त्याग नहीं है। उस भ्रमित त्याग के फल में संसार परिभ्रमण और अनंत दु:ख का अभाव नहीं हो सकता। जिस वस्तु में अपनापन होता है, उस वस्तु के वियोग में होनेवाले दु:ख की कल्पना कर सकते है। ज्ञानी परद्रव्य को पर जानकर, मानकर त्याग करते है। निश्चय से परद्रव्य को परद्रव्यरुप जाननेवाला ज्ञान ही त्याग है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सहित चारित्र ही सम्यक्चारित्र है।

जबतक जगत के क्षणिकपने का बोध नहीं होता, तबतक परद्रव्य का त्याग भी नहीं हो सकता। जगत के क्षणिकपने का ज्ञान करने के लिए जगत के समस्त पदार्थो के क्षणिकपने का प्रत्यक्ष अनुभव करना

आवश्यक नहीं है। चूंकि जगत के समस्त पदार्थो के क्षणिकपने का प्रत्यक्ष अनुभव संभव भी नहीं है। जगत की किसी भी एक घटना ही सारे जगत के क्षणिकपने का बोध कराने में पर्याप्त है। जिसप्रकार पकाने के लिए रखे हुए चावल में से किसी एक दाने को दबाकर अनुभव से पात्र में रखे हुए समस्त चावल पक चुके है, ऐसा निर्णय हो सकता है। उसीप्रकार,

जगत के किसी एक क्षणिकपने का प्रत्यक्ष अनुभव करके सारे जगत के क्षणिकपने का बोध हो सकता है।

राजा त्रृषभदेव को नीलांजना नामकी नृत्यांगना के मरण के समय समस्त जगत के क्षणिकपने का बोध हुआ था। समस्त जगत के क्षणिकपने का बोध करने के लिए जगत में रहनेवालें सभी जीवों की मौत देखना जरुरी नहीं हैं।

यदि आप किसी व्यक्ति के साथ अच्छा वर्ताव करो, फिर भी वह व्यक्ति आपके साथ अच्छा वर्ताव न करे तो ऐसा विचार करना कि यही जगत का स्वरुप है। अज्ञानी जगत स्वभाव से ही स्वार्थी है। जगत के जिस क्षणिकपने का मुजे बोध हुआ है, उसका स्वरुप तो क्षणिक है, साथ समस्त जगत का स्वरुप क्षणिक है। क्योंकि जगत में रहनेवालें सभी व्यक्ति, वस्तु या घटना भी जगत का ही एक हिस्सा है। सारे जगत को पासपोर्ट और विजा के बिना देखने की कला ज्ञानी में ही होती है।

क्षणिक जगत

आहार ग्रहण करने के बाद उसे मल के रुप में छोडना पडता है, पानी ग्रहण करने के बाद उसे मूत्र के रुप में छोडना पडता है, श्वास ग्रहण करने के बाद उसे उच्छवास के रुप में छोडना पडना है। व्यक्ति जिन-जिन पदार्थो को यहां ग्रहण करता है, उन समस्त पदार्थो को यहां पर ही छोडना पडता है।

समस्त पर संयोग और संयोगीभाव क्षणिक है, एक आत्मा ही नित्य है।

क्षणिकपना खोजने के लिए कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। शरीर में प्रतिसमय खून बह रहा है, वही उसका क्षणिकपना है। शरीर में स्थित आत्मा त्रिकाल स्थिर है, यही आत्मा का नित्यपना है।

जो लोग किराये के घर में रहते है, उनको जैसा एहसास होता है, ऐसा ही एहसास अपने घर में रहनेवाले लोगों को भी होना चाहिए। अपना घर भी अपना नहीं, किराये का है। शरीर भी एक घर है, शरीररुपी घर की किराये का होने से शरीर का नाम भी किराये का लगना चाहिए। दुनिया आपको जिस नाम से जानती है, वह नाम भी नित्य नहीं है, क्षणिक है, किराये का है।

परपदार्थ की बात तो दूर, आत्मा में उत्पन्न होनेवाले रागादि विकारी भाव और क्षायोपशमिक ज्ञान भी क्षणिक है। जब प्रवचन सुनकर ज्ञान प्राप्त होता है, उस समय भी यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि क्षायोपशमिक ज्ञान भी क्षणिक है। इसलिए उस ज्ञान में भी एकत्व करना ठीक नहीं है।

अज्ञानी क्षणिक पर्याय को नित्य जानता है, मानता है, इसलिए उसके फल में अनंत दु:खी होता है। वास्तव में द्रव्य को द्रव्य के स्वभावरुप जानना और पर्याय को पर्याय के स्वभावरुप जानना, इसी का नाम अनेकांतद्रष्टि है।

अनेक बरसों से मैं अपने विद्यार्थियों को कहता था कि मुझे मोक्ष जाना है, मुझे भगवान होना है। मेरी बात सुनकर वे मुझे मेरे ध्येय तक पहुंचने के लिए मना नहीं करते थे और उन्हें इस ध्येय के कारण आश्चर्य भी नहीं होता था। परंतु जब मैंने अपने कुछ विद्यार्थियों को कहा कि मुझे ग्रहस्थावस्था का त्याग करके मुनिधर्म अंगीकार करना है। मेरी यह बात सुनकर वे मुझे मुनि होने से रोकने की कोशिशे करने लगे और कुछ विद्यार्थी तो आश्चर्यचकित हो गए। मेरे मोक्षरुपी साध्य की बात सुनकर उन्हें आश्चर्य नहीं हुआ, परंतु मुनिधर्मरुपी साधन की बात सुनते ही वे चौंक पडे!

सत्य यह है कि अज्ञानी साध्य और साधन के सच्चे स्वरुप को पहिचानते ही नहीं। वे तो ऐसा मान रहे है कि जैसे मुनि हुए बिना ही मोक्ष मिलता होगा। अरे भाई! मुनिराजों को जिनेन्द्र भगवान के लधुनंदन कहा है।

मुनिदशा का चित्रण करते हुए गुरु भक्ति में कहा है -

पिता झलक ज्यों पुत्र में दिखती,
जिनेन्द्र झलक मुनिराज चमकती।

जिसप्रकार पिता की झलक पुत्र में दिखती है, उसीप्रकार जिनेन्द्र भगवान की झलक मुनिराज में दिखती है। मुनिराज वन की गुफाओं में और पर्वत की चोटी पर एकांत में होली खेलते है। पर्याय की पीचकारी द्रव्य की और छोडते है। आत्मार्थी को आत्मसाधना में लीन पंचेन्द्रिय विजेता मुनिराज मीनी भगवान लगने चाहिए। आत्मार्थी जीवों को ऐसा निर्णय होता है कि अनंत पर्याय में भोगा हुआ दु:ख एक पर्याय में भी नहीं भोगना और एक पर्याय में भी नहीं भोगा हुआ सुख अनंत पर्याय में भोगना है।

मुनिदीक्षा

मुनिदशा और मुक्तदशा की प्राप्ति के शुभ मुहूर्त नहीं होते। मूहुर्त देखकर दीक्षा ग्रहण करनेवालों को गृहित मिथ्यात्व भी नहीं छूटा, तब अगृहित मिथ्यात्व के बारे में तो पूछना ही क्या? जिसे गृहित मिथ्यात्व भी नहीं छूटा हो, उसे गृह छोडने से क्या प्रयोजन है? आत्मा में से अनंतानुबंधी आदि तीन कषाय चोकडी का अभाव होते ही सहजरुप से घर छूटता है और चार कषाय चोकडी का अभाव होने पर सहजरुप से देह छूटता है। यदि किसी जीव को काल या अशुभ चोघडिया में वैराग्य प्रकट हो तो क्या उसे ग्रहस्थदशा का त्याग नहीं करना? यदि आप अशुभ चोघडिया में शुभ कार्य नहीं करते हो, तो फिर शुभ चोघडिया में अशुभ कार्य क्यों करते हो? किसी जीव को अशुभ चोघडिया में वैराग्य प्रकट होता है, तो वह चोघडिया शुभ है और किसी जीव को शुभ चोघडिया में विकार उत्पन्न होता है, तो वह चोघडिया अशुभ है। यह बात कदापि नहीं भूलनी चाहिए कि अमवस्या के दिन ही भगवान महावीर को निर्वाण और गौतमस्वामी को केवलज्ञान प्रकट हुआ था।

दीक्षा के अवसर पर दीक्षार्थी को चमकदार वस्त्र और मनमोहक आभूषण पहनना उचित नहीं है। तीर्थकर के जीव का भी दीक्षा कल्याणक मनाया जाता है, परंतु वहां स्वर्ग के देवों को आमंत्रण देकर बुलाना नहीं पडता। ज्ञानी की द्रष्टि निजस्वभाव पर स्थिर होती है, दीक्षाकल्याणक के अवसर को मनाने पर

नहीं। ज्ञानी को प्रबल वैराग्य प्रगट होते ही वर्तमान संयोगो को सहज ही छोडकर वनप्रयाण करते है, परंतु जनप्रचार नहीं करते। नेमिकुमार ने दीक्षा ग्रहण करने के लिए कब मुहूर्त देखा था? वे तो वैराग्य प्रगट होते ही सहज संसार मार्ग से मोक्षमार्ग की और चल पडे।

तीर्थंकर का जीव जिस दिन माता के गर्भ में प्रवेश करता है, वह दिन सहज गर्भ कल्याणक के रुप में मनाते है। जिस दिन जन्म होता है, वह दिन सहज ही जन्म कल्याणक के रुप में मनाते है। जिस दिन केवलज्ञान प्रगट होता है, वह दिन सहज ही ज्ञान कल्याणक के रुप में मनाते है। जिस दिन मोक्ष होता है, वह दिन सहज ही मोक्ष कल्याणक के रुप में मनाते है। जब चार कल्याणकों में मुहूर्त और पूर्वतैयारी नहीं होती, तब क्या दीक्षा कल्याणक सहज नहीं हो सकता? जिस जीव को अंतर में वैराग्य प्रगट हुआ हो वह सादे कपडे को छोडकर चमकदार वस्त्र पहनें और बाद में उनका त्याग करे, ऐसा नहीं हो सकता। भूतकाल में राजा-महाराजा की प्रतिदिन वेशभूषा चमकदार होती थी। अत: जो कपडे पहने थे, उन्हें छोडकर वनप्रयाण कर गये। आजकल रोज का वेशभूषा पेंट-शर्ट छोडकर चमकदार कपडे पहिनकर उसका त्याग करना उचित नहीं है।

दीक्षार्थी माता-पिता की आज्ञा लेते है, वह भी मात्र जानकारी ही देते है, बल्कि अनुमति नहीं लेते। इम्फोर्मेशन और परमिशन में भेद है। आफिस में शेठ अपने नौकर को कहता है कि मैं कल आफिस नहीं आउंगा। वहां सेठ अपने नौकर को सिर्फ इम्फोर्मेशन देता है, जबकि नौकर अपने सेठ को कहता है कि मैं कल आफिस नहीं आउंगा, वहां नौकर अपने सेठ से परमिशन मांग रहा है। उसीप्रकार वैरागी को अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं होती। दीक्षार्थी तो मात्र यही सुचित करते है कि अब मुझे मत खोजना, मैं दीक्षा ग्रहण कर रहा हूं।

जब जीव को क्षणिक का बोध होता है, तब संसार में उत्पन्न होनेवाली पर्याय में उस पर्याय का व्यय भी दिखाई देता है तथा व्यय होनेवाली पर्याय में नवीन पर्याय का उत्पाद भी दिखाई देता है। प्रत्येक पर्याय का स्वरुप सहज क्षणिक ही दिखाई देता है।

ऐसे कितने ही लोग होते है, जिनका जन्म जिस अस्पताल में हुआ हो, उसी अस्पताल में उनकी मृत्यु भी हुई हो। जन्म और मरण के बीच में सारी दुनिया के चक्कर लगाकर वे अपने साथ क्या लेकर गये? मरनेवाले की ईच्छा तो यह थी कि उसके कमाये हुये रुपये उसके साथ जाये और किया हुआ पाप यहीं रह जाये। परंतु उसकी ईच्छा के विपरीत ही होता है। कमाया हुआ धन यहीं रह जाता है और बांधे हुये पाप साथ जाते है।

चूंकि हिसाब करने करने पर परिणाम यह प्राप्त होता है कि इस भव में किये पापरुप परिणाम में रच-पचकर इकट्ठा किया हुआ कर्म ही उसका मुनाफा है और अमूल्य मनुष्य भव व्यर्थ में गंवाया वही उसकी खोट है।

संसार के क्षणिकपने का ज्ञान होते ही वैराग्य का जोर बढते ही अनेक अज्ञानी मिलकर भी एक वैरागी को पलट नहीं सकते और राग का जोर बढने पर अनेक वीतरागी भगवान भी एक रागी को पलट

नहीं सकते।

पत्थर का कलेजा करके मुनिधर्म को जीवन में अपनाना चाहिए। जो कमजोर हो गये उनके लिए यह वीतरागमार्ग नहीं है। एक बार चलना शुरु किया कि वापिस लौटने का कोई विकल्प नहीं। जो जागा वो भागा। ओन्ली वन वे। नो रीटर्न टिकट।

यह बात परम सत्य है कि निमित्त से कार्य नहीं होता, फिर भी वनविहारी भावलिंगी मुनिराज भी असदनिमित को त्यागकर सदनिमित में रहते है। ज्ञानी की श्रद्धा में निमित्त अकिंचित्कर होने से संसार से अलिप्त रहकर निज आत्मा के नित्य स्वरुप को जानते है, अनुभव करते है। यही कारण है कि ज्ञानी संसार के क्षणिकपने से प्रभावित नहीं होते।

यदि कोई कहे कि मुनि को वन में विचरण करने का ही आग्रह क्यों? ज्ञानी उसे कहते है कि मुनि कहां आग्रह रखते है? आहार के लिए ग्राम, नगर और शहर में नियमित काल मर्यादानुसार आते है। आग्रह तो तुम रखते हो कि तुम्हें शहर में ही रहना है। तुम्हें मुनि के दर्शन करने के लिए या ज्ञान प्राप्ति के लिए वन में नहीं जाना। मुनि तो मुनि के व्यवहार के लिए आते है, जबकि तुम्हें तो दर्शनरुप व्यवहार के लिए वन में नहीं जाना। सच यह है कि अज्ञानी की द्रष्टि में आग्रह होने से उसे साधुजन भी आग्रही लगते है, उसे मुनिदशा पालन करने योग्य नहीं लगती। जिसे क्षणिक का बोध होता है, उसे ही मुनिधर्म अंगीकार करने योग्य लगता है।

नर से नारायण होने के लिए नरभव

खाना-पीना, विषयभोग भोगना, काम-सेवन करना, संतान को जन्म देना आदि कार्य तो पशुओं में होते पाये जाते है, उसमें नवीनता क्या है? खाने-पीने के लिए आहार-पानी तो पशु भी खोज लेते है। पक्षी भी रहने के लिए घोसला बनाते है, कितनी बारिकाई से माला बनाते है। उनके पास भी कला है, ज्ञान है। वे अपनी-अपनी आवश्यकता की पूर्ति कर लेते है। हमने अपनी ज्ञान और कला का उपयोग करके घर बनाये है, परन्तु अब घर बनाने का अवसर नहीं, बल्कि घर छोडने का अवसर आ चुका है। मनुष्य का वास्तविक कार्य संयमभाव धारण करना है। स्वर्ग के देव भी संयम धारण करने हेतु मनुष्यभव की प्राप्ति के लिए तरसते है। जब जीव को ऐसा एहसास होता है कि यह नरभव सिर्फ नारायण होने के लिए ही प्राप्त हुआ है, अत: नरभव की एक पल भी व्यर्थ में गंवाना योग्य नहीं है। ऐसा सोचकर ही जीव अध्यात्म मार्ग में प्रवेश कर सकता है।

जिस जीव को संसार के क्षणिकपने का बोध होता है, उस जीव को संसारीजनों से वार्तालाप भी बोझरुप लगता है, बाह्य व्यवहार रुचिकर नहीं लगता। संसार के संबंध बढना आत्मा की महानता नहीं है, बलिक आत्मा के कर्मबंधन का ही कारण है। यही कारण है कि ज्ञानी अप्रयोजनभूत विषय में नहीं प्रवर्तन नहीं करते। सभी प्रकार की पराई गपशप बोझरुप लगनी चाहिए। वर्तमान भूमिका में स्वाध्याय संबंधी चर्चा प्रयोजनभूत है परंतु आजकल क्या चल रहा है? व्यापार कैसा चल रहा है? आप कितने बजे उठते हो? कितने बजे सोते हो? क्या खाते हो? चाय पी या नहीं? नाश्ता किया या नहीं? ऐसे ही अज्ञानी अपना सारा जीवन चाय-पानी की पूछताछ में ही व्यर्थ में गंवा देता है।

यदि कोई व्यक्ति लिफ्ट में मिला तो पूछा, कैसे हो? मजे में? इतनी बात की। लेकिन लिफ्ट में

और चार सेकंड साथ में है, इसलिए कोई नया विषय छेडा, क्योंकि यदि चार सेकंड गुमशुम रहेंगे तो कैसा लगेगा? भाई, इन चार सेकंड के लिए निज आत्मा के शुद्ध स्वरुप का चिंतन किया होता तो? अज्ञानी को मनुष्य भव की महत्ता का एहसास नहीं है, इसलिए उसे शुद्धात्मा की रुचि नहीं है।

कभी-कभी अज्ञानी को ऐसा विचार भी आता है कि बहूत दिन बीत गये है, रिश्तेदरों को फोन ही नहीं किया है, यदि एक फोन नहीं करुंगा तो कैसा लगेगा? संबंध टिकाने के लिए ही सही, एक फोन कर दूं। अज्ञानी के दिमाग में संसार के संबंध टिकाने की वृत्ति ही पडी हुई है, जिससे उसे अकेलापन भाता नहीं है, वैराग्य आता नहीं है।

साधारण गृहस्थ की बात तो बहूत दूर, द्रव्यलिंगी मिथ्याद्रष्टी साधु को भी बाह्य में ग्रहस्थदशा का त्याग करने के बाद गृहस्थदशा संबंधी विकल्प उठते है, जिससे बाह्य त्याग होते हुए भी चित्त की मलिनता और उपयोग की चंचलता के कारण आत्मज्ञान की प्राप्ति से विमुख ही रहते है। गृहस्थावस्था में अपने माता-पिता और भाई-बहिन थे, उन्हें देखते ही ऐसे विकल्प उठने लगते है कि ये मेरे संसार के माता-पिता, भाई-बहिन है। यहां तक कि ऐसे वचन में भी अनेक द्रव्यलिंगी मिथ्याद्रष्टी साधु के मुख से आंतरिक एकत्वपूर्वक सुनने में आते है।

दीक्षा लेने के बाद भूतकाल के माता-पिता की सेवा करने का भाव भी उत्पन्न होता है, वहां अनेक प्रकार के सेवा करने के विकल्प उठते है कि यदि मैं उनके साथ होता तो दवा-आहार लाकर देता। ऐसे भाव मात्र से साधुपना दूषित हो जाता है।

जिन साधुओं को उनके भूतकाल के माता-पिता की सेवा करने का भाव आता है, वे सच्चे साधु नहीं है और जिन गृहस्थों को उनके माता-पिता की सेवा करने का भाव नहीं आता है, वे सच्चे गृहस्थ नहीं है। प्रत्येक जीव के विचार और वर्तन अपनी-अपनी भूमिकानुसार ही होना चाहिए।

समयसार में कहा है कि साधु को भूतकाल के रिश्तेदार का विकल्प भी उठे, तो वह भी अपराध है। उस अपराध के कारण उन्हें प्रायश्चित के रुप में प्रतिक्रमण करना चाहिए। भूतकाल में किये हुए रात्रिभोजन का वर्तमान में उत्पन्न हुए विकल्प के बदले में प्रतिक्रमण करने के लिए कहा है। त्रिकाली आत्मा को जगत एवं जगत की त्रिकाल क्रिया से भिन्न मानने का नाम सम्यग्दर्शन है।

शरीर आज भी मेरा नहीं है, अनंतकाल तक मेरा नहीं है। इसलिए ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि आज यह शरीर मेरा नहीं है और यदि इस शरीर की सेवा-चाकरी नहीं की और दो दिन बाद यह शरीर मेरा हो गया तो? ज्ञानी कहते है कि अनंतकाल तक यह शरीर तेरा होनेवाला नहीं है और अनादिकाल से यह शरीर तेरा हुआ नहीं है। तुम भगवान आत्मा शरीरादि परद्रव्य से त्रिकाल भिन्न हो, मोक्ष में शरीर रहित अनंतकाल तक रहना होने के कारण शरीर संबंधी चिन्ता रहित क्यों नहीं रह सकते? हे भाई! तुम देह संबंधी चिंता से सर्वथा मुक्त होकर ज्ञायक भावका आश्रय लो। स्वंयम को शरीर से अलग मानने का नाम सम्यग्दर्शन हे। और शरीर से अलग होने का नाम मोक्ष हे।

साधु को बेचारे कहनेवाले ही बेचारे

निवस्त्र साधु के पैर में चप्पल भी नहीं है, वे कांटे-कंकण में विहार कर रहे है, उनके पैर में कांटे भी चुभते है, वे धुप भी सहन करते है, यह सब देखकर अज्ञानी को ऐसा लगता है कि साधु कितना दुःख

सहन कर रहे है। अज्ञानी की द्रष्टि देहाधीन होने के कारण उसे देह की प्रतिकूलता कष्टदायक लगती है। उसे साधु बिचारे लगते है! भाई, क्या तुझे पता है? अतीन्द्रिय स्वसंवेदन प्रत्यक्ष आत्मानुभूति के फल को भोगनेवाले साधु बेचारे नहीं, बल्कि तुम स्वयं पांच इन्द्रिय के भोग संबंधी विकल्पों की जाल में फसे हुए हो, जिससे तुम स्वयं ही बेचारे हो। आज तुम्हें साधु बेचारे लगते है, लेकिन सिद्ध भगवान को तो शरीर ही नही है। जिन्हें शरीर ही नहीं ऐसे सिद्ध भगवान तुम्हें कैसे लगते है? एक बात हंमेशा याद रखनी चाहिए कि जबतक साधुदशा दु:खमय लगती है, तबतक जीव साधुधर्म पालने के भाव से भी डरता है, क्योंकि जीव को जान-बुजकर दु:खी नहीं होना है।

दु:ख सहन करना, साधु का लक्षण नहीं है, साधु तो अतीन्द्रिय आनंद की धुंटे पीते है।

साधु की नग्न दशा देखकर तो ऐसा लगना चाहिए कि वे वस्त्र के विकल्पों से मुक्त हुए, चप्पल के विकल्पों से मुक्त हुए। अनेकानेक विकल्पों से मुक्ति का फल अतीन्द्रिय सुख है, सु:ख कदापि नहीं। अनेक लोगों के मुख से अनेकबार यह सुनने में आता है कि तुम मुंबई में रहकर कितने सुखी हो, इसका आप को पता है? यदि तुम्हें इस बात का अनुभव करना हो, तो एकबार बिहार जाकर देखो कि दु:ख क्या है? ऐसा कहनेवाले लोगों की द्रष्टि मात्र बाह्य संयोग पर है। मुंबई शहर में खाने-पीने की सुविधा अतिसुलभ है, जबकि बिहार में अभी धी-दुध देखने को भी दुर्लभ है, जहां धी-दुध सरलता से प्राप्त होते हो वहां सुख और जहां धी-दुध सरलता से प्राप्त न होते हो वहां दु:ख, ऐसे विचार अज्ञानी की कल्पना में ही उत्पन्न होते है।

ज्ञानी कहते है कि अगर बिहार में रहकर भी जीव मोह रहित निराकुल है, तो वह धी-दुध के बिना भी सुखी है और मुंबई मे रहनेवाले व्यक्ति के पास अरबों रुपये होने के बावजुद भी वह व्यक्ति विकल्प और आकुलता के भार से दु:खी होता है।

सुख का संबंध आत्मा के साथ है।

आत्मा स्वयं सुख का स्वामी है।

सुख का स्वामी ही क्यों?

आत्मा स्वयं सुख है।

मैं स्वयं सुख हूं।

अज्ञानी की संपत्ति ही ज्ञानी की विपत्ति

अज्ञानी को बाह्य भौतिक पदार्थो में सुखबुध्दि होने से वह बाह्य साधनो को ही अपनी संपत्ति मानता है। जबकि ज्ञानी की द्रष्टि में अज्ञानी की संपत्ति ही विपत्ति है। अज्ञानी स्वयं मोहावेश के कारण अत्यंत दूरवर्ती जड पदार्थो में भी अपनापन करता है, परिणाम स्वरुप वह दु:खी ही होता है।

एक करोडपती मुंबई की चौपाटी पर अपनी गाडी में से एक करोड रुपये से भरी बेग लेकर नीचे उतरा, उसने अपने कोट के जेब में से माचिस की तिल्ली भी निकाली, वह जैसे ही एक करोड रुपये जलाने जा रहा था कि थोडी ही देर में भीड इकठ्ठी हो गई। वहां उपस्थित लोग कहने लगे कि यह व्यक्ति निश्चितरुपसे पागल हो गया है क्योंकि सारी दुनिया जिस रुपये के पीछे पागल हो रही है, यह व्यक्ति उस रुपये को जला रहा है। जब लोग उसे पागल, पागल कहने लगे, तब वह करोडपति बोला, मेरे से भी बडे पागल आप सब हो क्योंकि पागल को देखने के लिए इकठ्ठे हुए हो। लेकिन भाई, तुम कुछ ऐसा कर रहे हो जो पागल ही करता है, इसलिये हम यहा खडे है, ऐसा लोगों ने कहा। करोडपति ने स्पष्ट करते हुए कहा कि जिस एक करोड रुपये को मैं जला रहा हूं, वह दो नंबर का पैसा है। मुझे समाचार मिला है कि आज रात को मेरे धर पर इन्कमटेक्ष का छापा गिरनेवाला है। अगर मैं यह करोड रुपये नहीं जलाउं तो मुझे आजीवन केद की सजा होगी। तुम्हारी द्रष्टि में यह एक करोड रुपये संपत्ति है, पर मेरी द्रष्टि में महाविपत्ति है। देखनेवाले की द्रष्टि में संपत्ति जल रही है, जलानेवाले की द्रष्टि में भविष्य में होनेवाली आजीवन केद जल रही है।

इसीप्रकार अज्ञानी मानता है कि ज्ञानी ने संपत्ति का त्याग किया और वनप्रयाण किया लेकिन कहते है कि हे अज्ञानीजन, तुम जिसे संपत्ति मान रहे हो, वह संपत्ति है ही नहीं, वह तो महाविपत्ति है। यदि हमने वह दो नंबर के वैभव का (छ द्रव्य में पुदगल द्रव्य दूसरे नंबर पर है) त्याग नहीं किया होता तो चार गति रुप संसार की कैद अनंतकाल तक भोगनी पडती, इसीलिए तुम भी जैसे बने ऐसे शीध्रातिशीध्र जागृत होकर उसका त्याग करो।

विषय लोलुपी मनुष्य की विषयासक्ति के बारे में क्या कहना? संस्कृत कवि श्री भर्तुहरि ने कहा है, अच्छा है कि मनुष्य धास नहीं खाता, नहीं तो पशु को धास भी नही मिलता। ज्ञानी कहते है कि विषयासक्ति छोडकर एक भी अप्रयोजनभूत परमाणु अपने धर में नहीं रखना। वहां ऐसा नहीं सोचना कि परमाणु हमारे ज्ञान का विषय नही बन सकता, हमने परमाणु को ग्रहण किया ही नहीं, मात्र स्कंध को ही ग्रहण किया है। ज्ञानी कहते है कि एक परमाणु को ग्रहण करने का भाव भी आत्मा के लिए अहितकारी है, तो परमाणु के समूहरुप स्कंधो को ग्रहण करने का भाव हितकारी कैसे होगा? व्यवहार नय से अज्ञानी ने मुख्य दोनों प्रकार के स्कंधो को ग्रहण किया है। ज्ञानावरणादि सूक्ष्म स्कंध (द्रव्यकर्म) और शरीर, धर, गाडी आदि स्थूल स्कंध (नोकर्म)। इन दोनों कर्मो का मूल कारण रागादि विकल्प (भावकर्म) है।

कोई जीव ऐसा सोचता है कि पुण्य के उदय से प्राप्त हुई अनुकूलता क्षणिक है। ऐसा लगने पर उसका वियोग होने से पहले ही उसे भोगने की वृत्ति उठने लगती है तथा किसी जीव को समजपूर्वक उसे त्यागने के भाव उत्पन्न होते है। जैसा कि किसी व्यक्ति के पास आज एक लाख रुपये है, उसे ऐसा विचार आता है कि चोर आकर एक लाख रुपये चोरी करके ले जाये उससे पहले अभी ही उसका उपयोग कर लूं, जबकि किसी को ऐसा विचार आता है कि चोर आकर एक लाख रुपये चोरी करके ले जाये उससे पहले अभी ही उसको दान में दे दूं। क्षणिकपने का ज्ञान होने पर कोई संसारमार्ग पर तो कोई मोक्षमार्ग पर प्रयाण करता है।

किसी जीव को जवानी में क्षणिकपने का ज्ञान होने पर संसार भोगने की ईच्छा होती है, तो किसी जीव को संयम लेकर जवानी में ही मुनिधर्म पालने की रुचि होती है। वास्तव में पूर्व में हो चुके अधिकांश

ज्ञानीयों ने युवावस्था में ही प्राप्त शरीर का सदुपयोग करके आत्मा का हित किया था। सर्वत्र द्रष्टि की ही प्रधानता है। पश्चिमी संस्कृति में अगर एक करोड रुपये का चेक भी लिखने में आता है तो ऐसे लिखने में आता है कि one crore only. वहां एक करोड रुपये भी मात्र लगते है, उसमे असंतोष वृत्ति स्पष्ट झलकती है, जब कि भारतीय संस्कृति में पांच रुपये के चेक पर भी पांच रुपये पूरे लिखा जाता है। यहां पांच रुपये भी पूरे दिखते है, ऐसी महान संस्कृति को त्यागकर अन्य संस्कृति का अनुकरण कैसे कर सकते है? परम पवित्र भारत देश में जन्म लेने के लिए इस जीव ने महापुण्य खर्च किया है। जिससे मनुष्यभव की एक क्षण भी व्यर्थ में बरबाद न हो जावे, उसकी ओर ध्यान देना चाहिए।

पं.दौलतरामजी ने छहढाला में कहा है -

इमि जानि आलस हानि, साहस ठानि यह सिख आदरौ;

जबलों न रोग जरा गहै, तबलो झटिति निज हित करो।

ऐसा जानकर, प्रमाद छोडकर, पुरुषार्थ करके यह उपदेश ग्रहण करो कि जब तक रोग या बुढापा नहीं आता, उससे पहले ही जल्द से जल्द आत्मा हित कर लेना चाहिए।

मरण संमुख बिस्तर पर लेटे हुए पिताजी भी धर की देख-रेख रखना नहीं छोडते। पुत्र कहता है कि पिताजी, जमाना बदल गया है, सो धर का फर्नीचर बदलने की ईच्छा है। तो पिताजी कहते है कि नहीं, इस धर में जबतक मैं हूं तबतक सब कुछ मेरी ईच्छा अनुसार ही रहेगा। पुत्र सोचता है कि कब पिताजी मरे और कब फर्नीचर बदल दूं? पिताजी को भी बहुत गंभीरता से इस बात का विचार करना चाहिए कि जिस पुत्र को मेरे मरने राह देखनी पडे यह मेरे लिए शरमनाक है। तो फिर चलो परधर का मालिकीपन छोडकर निजधर में प्रवेश करें। प्रत्येक जीव को संसार की मायाजाल में विशेष रुचि न रखकर, एक मात्र शुद्धात्मा का आश्रय लेना चाहिए। यही मनुष्य भव की सार्थकता है।

अनंतकाल की तुलना में मनुष्यभव क्षणिक है। जैसे मंगलवार क्षणिक है, ऐसे ही बुधवार भी क्षणिक है, उसीप्रकार प्रत्येक पर्याय क्षणिक है।

क्षणिक मिले हुए मनुष्यभव में अपनी ज्ञान पर्याय में द्रव्य को जानना है, अनुभव करना है, ज्ञान पर्याय में द्रव्य को गुंथना है।

कहा भी है कि बिजली के चमकारे में मोती गुंथा जाता है, अपनी क्षणिक पर्याय में आत्मद्रव्य को गुंथने से मोक्षमाला तैयार होती है।

किसी ने मुझे गाली दी, चाटा मारा, निंदा की, प्रशंसा की, फूल का हार पहनाया, आदि समस्त क्रिया क्षणिक है, उससे मुझे क्या लाभ-नुकसान है? जैसे के साथ तैसा रहना, यह ज्ञानी का कर्तव्य नहीं है।

भले ही आतंकवादियों ने अनेक लोगो पर गोलियों से प्रहार किया हो, फिर भी मुझे उन पर द्वेष नहीं करना चाहिए, उनको पर्याय की द्रष्टि से भिन्न भगवान आत्मा के रुप में देखना चाहिए। वे द्रव्यद्रष्टि से सिद्ध परमात्मा है तथा पर्यायद्रष्टि से आतंकवादी है। ऐसा भी कह सकते है कि पर्यायद्रष्टि से वह मेरा भूतकाल है एवं द्रव्यद्रष्टि से मेरा भविष्यकाल है। अपनी भविष्य की तैयारी में भगवान होने का ध्येय मुख्य होना चाहिए। भविष्य के अनेक प्लान में भगवान होने का प्लान होना चाहिए। अरे! सिध्द भगवान होने का ही फ्युचर प्लान होना चाहिए।

जो व्यक्ति ऐसा कहता है कि वर्तमान मे इकट्ठा किया हुआ वैभव मैंने अपनी मेहनत से जमा किया है, मेरे माता-पिता से नहीं मिला। ज्ञानी उसे कहते है कि तुम्हारे कथन से ही यह सिद्ध होता है कि तुमने इकट्ठा किये हुए इस परिग्रहरुपी पाप के फल में तुम्हें स्वयं ही नरक-निगोद में परिभ्रमण करना पडेगा, तुम्हारे माता-पिता को नहीं।

तुम्हारे पिताजी तो बडे संतोषी थे, लेकिन तुम असंतोषी पैदा हुए कि मुंबई जैसे महानगर में गांव छोडकर करोडपति बनने के लिए आये, इसलिए तेरी मेहनत का अभिमान छोडकर निज आत्मस्वभाव की ओर द्रष्टि कर। पुण्य के उदय को अपना पुरुषार्थ मान लेना, यही जीव की सबसे बडी कमजोरी है। कर्म की उदयाधीन द्रष्टि छोडकर स्वभाव की ओर द्रष्टि केन्द्रित करना ही धर्म का मर्म है।

पुण्य रस को छोडकर अतीन्द्रिय सुख के समरस को पीनेवाला ही धर्मात्मा है।

संसार में जो वस्तु उत्पन्न हुई है वह नष्ट होने के लिए ही उत्पन्न हुई है। उसी प्रकार वस्तु का संयोग भी वस्तु का वियोग होने के लिये ही होता है। ज्ञानी तो यहां तक कहते है कि संयोग के काल में भी दो द्रव्यो के बीच में अत्यंताभाव होता है। संसार के स्वरुप का यथार्थ निर्णय करके संसार में रहते अज्ञानी की मान्यता निज आत्मा को प्रभावित न करे उसका हर पल ध्यान रखना चाहिए। स्वयं में राग न हो जाये इस हेतु से दूसरे जीवो में स्वयं के प्रति पडे हुए राग के विचार को भी विराम देना चाहिए। जब अज्ञानी दूसरे के राग का विचार करता है, तब उसे भी राग भाव उत्पन्न होने लगता है, ऐसी पराधीन दशा का परिणाम दु:खद ही होता है।

एक अनुकूलता को प्राप्त करने के बाद दूसरी अनुकूलता प्राप्त हो तबतक पहली अनुकूलता भी प्रतिकुलता के रुप में पलट गई होती है, ऐसी अनुकूलता और प्रतिकूलता के विकल्पो में रचे-पचे रहने से आकुलता ही उत्पन्न होती है। पुत्र को देखने की ईच्छा है, वह ईच्छा पूर्ण होने पर, पुत्र के पुत्र को भी देखने की ईच्छा होती है, जब पुत्र का पुत्र आता है, तब तो स्वयं के जाने का समय आ जाता है, ऐसी परिस्थितियां जीव को क्षणिक का बोध कराती है यदि जीव क्षणिक का बोध करे तो!

संसार के भोगो को अज्ञानियों का झूठन कहा है, क्योंकि ज्ञानियों ने भूतकाल में जिन भोगो को भोगा था, वह अज्ञानता से ही भोगा था। यदि संसार के भोगो को ज्ञानी का झूठन कहेंगे वो अज्ञानी उसे ज्ञानी का चरणामृत समझकर भोगने की वृत्ति छोडेगा नहीं, इसलिये निज आत्मा के लक्ष्य से संसार के समस्त भोगो से उदासिन होना यही वास्तविक क्षणिक का बोध है।

प्रत्येक धटना मे क्षणिक बोध होना चाहिए। मांसाहारी भविष्य में शाकाहारी हो सकता है, शाकाहारी भविष्य में मांसाहारी हो सकता है, मांसाहारी क्षणिक है, सो उसमें द्वेष मत करो। शाकाहारी क्षणिक है, सो उसमें राग मत करो। यदि राग और द्वेष नहीं करें तो क्या करें? अरे! वस्तु स्थिति जैसी है, ऐसी मात्र जानो परंतु विकल्पो की जाल में स्वंय को फंसाईए नहीं।

अज्ञानी की वर्तमान ज्ञान पर्याय की कमजोरी यह है कि कोई भी धटना धटित होने के बाद उसके ज्ञान मे अहेसास के रुप में ज्ञात होती है। जैसे किसी व्यक्ति ने तुम्हारी निंदा की, उस समय निंदा के ध्वनि उत्पन्न हुए उसके कितने ही समय बाद उस ध्वनि का अज्ञानी को भावभासन होता है। जब उसे निंदारुप ध्वनि का भावभासन होता है, तब वह ध्वनिरुप पर्याय भुतकाल बन चुकी होती है। एक द्रव्य की भुतकाल

की पर्याय और वर्तमान की पर्याय के बीच प्रागभाव होता है। अज्ञानी को इस सिध्दांत की यथार्थ श्रध्दा न होने के कारण वह भूतकाल को वर्तमान समझकर द्वेषभाव करता है ओर व्यर्थ मे दु:खी होता है।

जैसे किसी व्यक्ति की नजर के सामने और कोई व्यक्ति न होते हुए भी मशीनगन में से गोलीयां छोडे, तो लोक जगत में वह मूर्ख कहलायेगा। क्योकि जिसकी वर्तमान में सत्ता नहीं है, उसका विकल्प करना यह अज्ञानी की मूर्खता है। ज्ञानी संसार मे अलिप्त रहकर निज शुद्धात्म स्वरुप को जानता है, इस कारण ज्ञानी को संसार के क्षणिकपने की असर नहीं होती। जैसे मुझे कोई 10 किलो सोने का बिस्किट भी देता है तो वह मेरे ज्ञायक स्वभाव मे मिल नहीं जाता, आत्मा में एक गुण भी कम नहीं हो जाता ओर उस सोने के वियोग में आत्मा में से एक गुण भी कम नहीं हो जाता। ज्ञानी कहते है कि सारा विश्व सोनेमय हो जाय तो उससे मुझे क्या? संयोग वियोग मे सुखी या दुखी होना यह ज्ञानी का कर्तव्य नहीं है।

किसी को होटल के एक रुम मे एक दिन रहेना हो तो उसके रंग, फर्निचर और डिझाइन आदि के कारण वह कोई विकल्प नहीं करता क्योंकि उसे यथार्थ श्रद्धा है कि यह संयोग पर है और क्षणिक है, जैसे होटल के रुम का संयोग पर ओर क्षणिक मानने से उस संबधित विकल्प उत्पन्न नहीं होते, ऐसे ही स्वयं के शरीर और धर वगेरे संयोगो को भी पर ओर क्षणिक मानने से उस संबंधित विकल्पो को भी विराम मिलेगा।

वर्तमान एक समय की क्षणिक पर्याय का अस्तित्व भूतकाल की अनंत पर्याय और भविष्य की अनंताअनंत पर्याय में नहीं है, उस एक समय की वर्तमान पर्याय का एक समय के लिये होना वह भी नहोने के समान है, जो आदि और अंत में न हो उसके मध्य में होने से क्या प्रयोजन है? उसी कारण ज्ञानीयोने क्षणिक को क्षणिक जानकर उस संबंधी विकल्प से निवृत होने का उपदेश दिया है।

जैसा कि धोडे की आंखो पर वाजुपट्टी पहनाई जाती है, जिससे उसकी द्रष्टि अप्रयोजनभूत विषयो की ओर न जाये। उसीतरह यहां भी संसार को क्षणिक बताकर उससे द्रष्टि हटाकर त्रिकाली नित्य आत्मा में द्रष्टि केन्द्रित करने का उपदेश दिया है।

छहढाला में कहा है-

पुण्य-पाप फलमांहि, हरख-विलखौ मत भाई,
यह पुदगल परजाय विनशि, उपजे फिर थाई।
लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ;
तोरि सकल जगदंद-फंद, नित आतम ध्याओ।।

हे आत्महितैषी प्राणी, पुण्य के फल में हर्ष मान और पाप के फल में द्वेष मत कर, क्योंकि यह पुण्य और पाप पुदगल की पर्याय है। उत्पन्न होकर नाश हो जाती है और फिर से उत्पन्न होती है। अपने अंतर में निश्चय से लाखो बातों का सार इसप्रकार ग्रहण करो कि पुण्य-पापरुप सभी जन्म-मरण के द्वंदरुपी विकारी-मलिन भावों को छोड सदा अपने आत्मा का ध्यान करो।

आशय यह है कि पुण्य और पाप क्षणिक होने के कारण उसमें न रच-पचकर निजात्मा की साधना करनी चाहिए।

आत्मसाधना ही वास्तविक साधना है।

आत्मासाधना का फल अतीन्द्रिय सुख है, जिसका अस्तित्व अनंत समय तक टिककर रहेगा। साधक-साधन-साध्य का भेद जब दूर होता है, तब निर्विकल्प आत्मानुभूतिरुप साधना सिद्ध होती है।

पुण्य के उदय में अपनी वृत्ति को जांचिए

प्रत्येक जीव को अपनी वृत्ति को प्रति समय जांचना चाहिए। जैसे कि किसी व्यक्ति को ऐसे विकल्प उत्पन्न होते है कि मुझे पेन चाहिए। उस व्यक्ति को पेन प्राप्त करने के भाव दो प्रकार के हो सकते है। पहला - मैं मेहनत करुं और पैसा कमाकर पेन खरीदुं। दूसरा - मैं किसी की जेब में से पेन छीन लूं। उन दोनों प्रकार से मिली हुई पेन में पुण्य तो खर्च होता ही है। कमाकर खरीदी हुई अनुकूल पेन पुण्य के उदय से मिलती है और छीनकर मिली हुई अनुकूल पेन भी पुण्य के उदय से ही मिलती है। दोनों स्थिति में महत्त्व वृत्ति का ही है। इसीलिए हर समय जीव को अपनी वृत्ति का विचार करना चाहिए।

आत्मा में स्थित राग-द्धेषरुप विकारीभावों का प्रकटरुप विकल्प है। जो विकल्प आत्मा में उत्पन्न होने है, वे आत्मा में स्थित वृत्तियों का ही प्रकट स्वरुप है। यदि आत्मा में राग-द्धेष का अस्तित्व ही न हो, विकल्प भी उत्पन्न नहीं होते। यही कारण है कि पूर्ण वीतरागी अरहंत और सिद्ध परमात्मा पूर्ण निर्विकल्प है।

पुण्य को व्यर्थ में मत गंवाओ

अपने पुण्य को व्यर्थ मे खर्च करना या नहीं करना, जीव की वृत्ति पर आधारित है। भले ही अनुकूल संयोग पुण्य के उदय से मिलते हो, लेकिन यह बात हंमेशा याद रखनी चाहिए कि पुण्य के उदय से मिले हुए संयोगो को भोगने का भाव पाप है। जैसे कि खाने लिए दो सब्जी प्राप्त होने के बावजुद भी एक सब्जी ही खाना। मुझे खाना खाकर पेट भरना है, लेकिन रसनेन्द्रिय को पोषना नहीं है, ऐसा जिनका प्रयोजन है, वे जीव प्रतिसमय पुण्य के उदय से मिले हुए संयोगो को छोडकर भी आत्मसाधना में व्यस्त रहते हैं। जीभ की आवश्यकता की पूर्ति मत करो, बल्कि पेट की आवश्यकता पूर्ण करो।

जैसे कि तुम्हारे पास दस गाडी है, लेकिन वर्तमान में एक ही गाडी उपयोग में आ रही है। इसका अर्थ यह नहीं है कि एक ही गाडी का पुण्य खर्च हो रहा है। वहां तो दसों गाडियों को रखने के बदले में प्रतिसमय पुण्य खर्च हो रहा है। जैसे दस में से एक ही गाडी उपयोग में आती होने के बावजुद भी दसों गाडियों का वेल्थटेक्ष भरना पडता है, क्योंकि वे गाडियां तुम्हारे नाम पर है, उसीतरह जीव ने ग्रहण किये हुए समस्त परिग्रह के बदले में प्रतिसमय पुण्य खर्च हो रहा है, ऐसा समझाना चाहिए।

परिग्रह नाम के पाप के लिए अपने पुण्य को खर्च न करके सदगुरु प्राप्ति के लिए पुण्य खर्च हो तो वह श्रेष्ठ है, प्रत्येक साधक की यही भावना होनी चाहिए।

जिस परिग्रह को जीव ने ग्रहण किया है, उस परिग्रह संबंधी हिंसा झूठ, चोरी तथा कुशील आदि पाप का बंध भी जीव को नियम से हो रहा है, ऐसा समझना चाहिए कि किसी वस्तु की चोरी करते समय ही चोरी संबंधी पाप का बंध नहीं होता, बल्कि उसे जबतक अपने पास रखते है, तबतक पाप का बंध होता है।

इन्कमटैक्ष की चोरी करते वक्त ही चोरी नाम के पाप का बंध नहीं होता, लेकिन कोई व्यक्ति इन्कमटैक्ष की चोरी करके जमा किये हुए धन से टेलिविजन खरीदता है, जबतक उस टेलिविजन का परिग्रह रखता है तबतक उसे चोरी संबंधी पाप का बंध होता है।

उसीप्रकार तुम मुंबई में रहते हो, लेकिन एक धर अमेरिका में भी रखा हुआ है। तुम अमेरिका में रहते नहीं, लेकिन वह धर तुम्हारा परिग्रह होने से उस धर में होनेवाली उधई आदि जीवों की हिंसा के पाप का बंध भी तुम्हें मुंबई में बैठेबैठे हो रहा है, मुंबई में बैठे हुए भी अमेरिका संबंधी पाप कर्म की कमाई हो रही है।

अरे भाई, यही कारण है कि तीर्थंकरो ने पुण्य के उदय से अपूर्व वैभव प्राप्त होने के बावजूद भी उसे न भोगकर मोक्षमार्ग पर चले गये, वही कारण है कि वे आज सिद्ध पद पर बिराजमान है, अनंत सुख को प्रतिसमय भोग रहे है।

पोस्टमेन

तत्त्व का स्वाध्याय करते समय किसी व्यक्ति विशेष को लक्ष्य में न रखकर वस्तु स्वरुप को समजने का प्रयत्न करना चाहिए। सभी प्रकार के आग्रह छोडकर सत्य समजने के जिज्ञासु को ही सत्य ज्ञान हो सकता है।

जब पोस्टमेन तुम्हारे घर आकर खत देता है तब पोस्टमेन के द्धारा मिला हुआ खत पोस्टमेन का लिखा हुआ न समजकर, पोस्टमेन के वेश पर द्रष्टि न करके उस खत को लिखनेवाले व्यक्ति को याद करते हो। जिसके नाम पर खत लिखा हुआ है, वह व्यक्ति अंध है, उस कारण पोस्टमेन स्वयं ही खत पढकर सुनाता है, आचार्य भगवान ने भी अज्ञानी अंध जीवों पर अत्यंत करुणा करके अनेक शास्त्र लिखे हैं। वर्तमान में विद्धान पुरुष उन शास्त्रों को पोस्टमेन बनकर अज्ञानीजनों तक पहूंचा रहे है। आगम को पढकर सुना-नेवाले विद्धान द्धारा सुनते समय आचार्य भगवान का स्मरण करना चाहिए। ऐसा ही विचार करना चाहिए कि ज्ञानियों ने मेरे नाम पर मेरे लिए ही समयसार, प्रवचनसार, नियमसार आदि ग्रंथ लिखे है, इसलिए मुझे उसका सदुपयोग करके आत्महित करना चाहिए। प्रत्येक जीव आगम का अभ्यास कर सकता है। ग्रहस्थ को आगम का अभ्यास करने का मना नहीं किया है। तीर्थंकर भगवान ने समवशरण में जो उपदेश चार ज्ञान के ज्ञाता गणधर देव को दिया था वही उपदेश गाय-भेंश आदि पशुओं को भी दिया था। इसलिए समस्त प्रकार की भेद द्रष्टि दूर करके ज्ञानमार्ग पर चलना चाहिए।

ज्ञानी का अकर्तापना

पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी स्वयं को परद्रव्य की क्रिया का अकर्ता मानते थे, फिर भी उन्होंने जिज्ञासु जीवों को अनेक बरसों तक प्रवचन दिये, क्योंकि परद्रव्य की तरह वे स्वयं को उपदेश देने की अपनी विकल्परुप पर्याय का भी अकर्ता मानते थे। ज्ञानी को अपनी-अपनी भूमिकानुसार शुभ विकल्प आये बिना नहीं रहते फिर भी ज्ञानी प्रतिसमय उन विकल्पों निर्लेप रहकर मात्र ज्ञाता रहते थे, कर्ता नहीं मानते थे।

ज्ञानी आत्मानुभूति के बाद स्वसंवेदनपूर्वक प्रत्यक्ष अनुभव किये हुए आत्मा का वर्णन करते हुए द्रव्यश्रुत की रचना करते है। उसी शास्त्र को पढकर कोई अज्ञानी स्वसंवेदनपूर्वक आत्मा का अनुभव करता है। ऐसे निश्चय और व्यवहार की परंपरा चलती है। ज्ञानी को भव्य जीवों के प्रति शुभराग होता है, जिससे वे शास्त्र लिखते है। शुभराग तो क्षणिक है, लेकिन शुभराग की निशानी क्षणिक नहीं होती। जैसे कि किसी माता-पिता को भूतकाल में काम विकार उत्पन्न हुआ था, लेकिन वह कामभाव तो क्षणिक ही था। वह भाव तो आया और चला गया, लेकिन उस भाव की नीशानी उनकी संतान है, जो आज भी विद्यमान है। उसीप्रकार कुंदकुंदाचार्यदेव को समयसारादि शास्त्रों को लिखने का शुभराग उत्पन्न हुआ और नष्ट भी हो गया, लेकिन शुभराग की नीशानी आज भी हमारे पास विद्यमान है। आचार्य देव के शुभराग की नीशानी दूसरे अनेक भव्य जीवो के शुभाशुभ विकारीभावों को टालने में निमित्त बने ऐसी उत्तम नीशानी है, जीव को उसके पुण्य तथा पाप के उदय अनुसार बाह्य अनुकूलता और प्रतिकूलता मिलती है। वर्तमान राग-द्धेषरुपी विकारीभावों के कारण जीव को अनुकूलता और प्रतिकूलता नहीं मिलती होने के कारण रागादिभाव निरर्थक सिद्ध होते है।

लोक में भी यह देखने में आता है कि मां अपने सुंदर रुपवान बालक को काजल का काला टिका लगाती है जिससे उसके बालक के रुप पर किसी की नजर न लग जाये। बस इसीप्रकार की मिथ्या मान्यता का पोषण करके जीव रागादिभावों को परद्रव्य की क्रिया का कर्ता मानता है। अगर इसीतरह किसी की नजर लग जाती हो तो रुपवान ऐसी रुपसुंदरियों को काले टिके की जरुरत ज्यादा पडती।

सार यह है कि जीव को अपने पुण्य के उदय में अनुकूलता तथा पाप के उदय में प्रतिकूलता मिलती है। प्रत्येक जीव की परिस्थिति का कारण प्रत्येक जीव स्वयं ही है।

ज्ञानी अनुभवपूर्वक समजाते है कि जब रागादिभाव से अनुकूलता और प्रतिकूलता मिलती ही नहीं तो व्यर्थ में रागादिभाव करना ही क्यों ? हां, इतना नुकसान जरुर होगा कि रागादिभाव के कारण अज्ञानी को अनंत कर्मबंध के फल में अनंत संसार परिभ्रमण करना पडेगा। इसलिए अनुकूलता की प्राप्ति हेतु किये गये निरर्थक रागादिभाव भी संसार परिभ्रमण का कारण होने से सार्थक सिद्ध होते है।

पूज्य कानजीस्वामी कहते थे कि राग तो क्षणिक है, नपुंसक है, राग के कारण कुछ भी नहीं होता है। जिससे क्षणिक राग की महिमा छोडकर त्रिकाली टिकर रहनेवाले अपने ज्ञायकभाव पर द्रष्टि कर। चैतन्य स्वभावी त्रिकाली पुरुष को भूलकर क्षणिक विकार ऐसे रागरुप नपुंसक की ओर ज्ञान पर्याय द्रष्टि करती है, यही जीव के पुरुषार्थ की कमजोरी है। अब स्वयंवर का प्रसंग है। ज्ञान पर्यायरुपी स्त्री के सामने दो वरराजा हाजिर है। त्रिकाली अनंत शक्तिशाली भगवान आत्मा और नपुंसक राग। ज्ञानी त्रिकाली पुरुष भगवान आत्मा में अपनापन करते है, उससे ब्याह करते है अर्थात वरमाला पहनाते है, जबकि अज्ञानी नपुंसक राग में अपनापन करता है, उसे वरमाला पहनाता है।

एक क्षण से ज्यादा जिसका आयुष्य नहीं है तथा जिसमें सुख का अंश भी नहीं है ऐसी राग की पर्याय में से भी अज्ञानी ने एक क्षण के लिए भी काल्पनिक सुख तो लिया। अब विचार करो! एक समय के अस्तित्ववाली पर्याय के सुख की बराबरी में अनंत समय तक जिसक अस्तित्व टिककर रहनेवाला है तथा अनंत सुख स्वरुप है ऐसे द्रव्य के अनुभव से प्रकट हुआ अनुपम सुख कल्पनातीत है।

प्रत्येक जीव को इस बात का सूक्ष्म द्रष्टि से विचार करना चाहिए कि जो पर्याय मेरे ज्ञान का ज्ञेय बनती है, उसके अतिरिक्त अनंत पर्याय इस जगत उसी समय उत्पन्न होती है। जैसे अनंत पर्याय की ओर अपनी द्रष्टि नहीं जाने पर भी अनंत पर्यायों का परिणमन यथानुरुप होता है, तो एक पर्याय से द्रष्टि हटाकर निजात्मा में स्थिर करने से संसार का परिणमन रुक नहीं जायेगा।

मेरे यह जगत चलेगा नहीं ऐसा कहनेवाले लोगों से कब्रस्तान भरे पडे है, आज वे यहां हाजिर नहीं है फिर भी सारा जगत व्यवस्थित चल रहा है। जगत के स्वतंत्र परिणमन के लिए आत्मा के एक भी विकल्प की आवश्यकता नहीं है। जिससे एक मात्र निर्विकल्प दशा ही परम उपादेय है।

इस जीव ने अनंतकाल में अनंत विकल्प करके अनंतबार भवभ्रमण किया। अनंतबार जन्म लेकर जीया और मरा लेकिन उसने एकबार भी वीतराग धर्म का शरण नहीं लिया। वह जीने के लक्ष्य से अनंतबार जीया लेकिन मरने के लक्ष्य से एकबार भी नहीं जीया अर्थात प्रत्येक अज्ञानी कल मैं जीनेवाला हूं ऐसा मानकर आनेवाले कल की तैयारी करता है। कल मैं जीनेवाला हूं उस लक्ष्य से वह आज का जीवन जी रहा है, जब जीव मनुष्यभव के क्षणिकपने को द्रढरुप से समजता है तब पर्याय से द्रष्टि हटाकर स्वयं को त्रिकाली नित्य ध्रुव आत्मा मानता है।

शास्त्र पाठन और तत्त्वविचार ही करने योग्य

देव पूर्ण निर्विकल्प होते है। शास्त्र द्रव्यश्रुत होने से उसका आधार विकल्प है, जबकि गुरु छट्ठे-सातवें गुणस्थान में झुलने के कारण विकल्प और निर्विकल्प ऐसे दोनों स्वरुप में होते है।

वर्तमान विकल्प की भूमिका में देव और गुरु की योग के अभाव में जीव को स्वभाव की ओर ले जाने में शास्त्र पाठन ही उत्तम उपाय है। भगवान को खोजने के लिए घुमने में समय गंवाने की बजाय शास्त्र पढने में समय का सदुपयोग करना चाहिए। अज्ञानी एक असंभव कार्य करने के लिए प्रयास करता है जिससे दुर्लभ कार्य भी असंभव बन जाता है। शास्त्र पढते समय यह याद रखना चाहिए कि ज्ञानी द्वारा रचित शास्त्र अथवा ज्ञानी के वचन पर आधारित रचना ही पढने योग्य है, अन्य कोई नहीं। क्योंकि यदि कोई व्यक्ति अपने स्वतंत्र अभिप्राय शास्त्र के वचनों के साथ मिश्रित करता है, तब वह ज्ञानी रचित शास्त्र को भी शस्त्र बनाता है, ऐसा समजना। कैसे शास्त्र पढने-सुनने चाहिए, तत्संबंधी विस्तृत स्वरुप जानने के लिए महापंडित टोडरमलजी रचित मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रंथ का अध्ययन करना चाहिए।

शास्त्र वांचन करने के बाद उस विषय पर विशेष विचार करना चाहिए। जैसे गाय धास खाने के बाद तत्काल दूध नहीं देती, लेकिन धास को पचाती है, अगर वह न पचाये तो धास दूध रुप में परिणमित न होकर छाण के रुप में बाहर निकल जाता है। उसीप्रकार जीव शास्त्र वांचन करने के बाद तत्त्व का मंथन करना चाहिए, ऐसा करने से परज्ञेयों की रुचि टलती है और वैराग्य का जोर बढता है।

वास्तव में आगम के अभ्यास से, गुरु के वचन से या भगवान की दिव्यध्वनि से भी जीव धर्ममार्ग पर

नहीं चलता है, बल्कि विचार के माध्यम से ही धर्ममार्ग पर पहला कदम रखता है। मोक्षमार्ग प्रकाशक में भी कहा है कि, देखो तत्त्वविचार की महिमा! तत्त्वविचार रहित देवादिक की प्रतीति करे, बहुत शास्त्रों का अभ्यास करे, व्रतादिक पाले, तपश्चरणादि करे, उसको तो सम्यक्त्व होने का अधिकार नहीं; और तत्त्वविचारवाला इनके बिना भी सम्यक्त्व का अधिकारी होता है।

जीव को ऐसा विचार करना चाहिए कि मैं कौन हूं? मेरा द्रव्य स्वभाव कैसा है? शरीर, वाणी और मन आदि परद्रव्य और शुद्धाशुद्ध पर्याय से भिन्न मेरा परम परिणामिकभाव कैसा है? विचार के माध्यम से ही सफल साधना की शुरुआत होती है, इसलिए प्रत्येक जीव को निरंतर धाराप्रवाह से चलते विचार का विचार करना चाहिए।

विद्धान ही नहीं, विरागी भी होना

विद्धान होना जितना सरल है, विरागी होना इतना सरल नहीं। विद्धान होने के लिए पढना पडता है, वैरागी होने के लिए पढा हुआ भूलना पडता है। आत्मज्ञान बिना सच्चा वैराग्य नहीं होता है। मात्र शास्त्रज्ञान प्राप्त करके जीव विद्धान होता है, परन्तु आत्मज्ञान प्रगट करके जीव विरागी होता है। सिर्फ अपना पंडितपना बताकर मान कषाय को पोषना योग्य नहीं है। तरह-तरह की युक्तियों का प्रयोग करके भोले जीव के सिर पर अपनी स्वतंत्र मान्यताओं का बोझ नहीं डाल देना चाहिए।

कोई विद्धान ऐसा मानते है कि सिर पर टोपी पहनने से बाल बचते है, खिरते नहीं। तत्संबंधी तर्क देते हुए वे कहते है की स्त्रियां हंमेशा सिर पर ओढकर रखती है, जिससे उन्हें टाल नही होती, लेकिन पुरुष सिर पर टोपी नहीं पहनता, इसलिए पुरुष को टाल हो जाती है।

टोपी पहनने से बाल खिरते बच जाते है। ऐसा मान लेने पर तो द्रव्य की स्वतंत्रता पर प्रश्नार्थ चिन्ह लग जायेगा। इसलिए मेरा कहना सिर्फ इतना ही है कि भोले जीवों को तरह-तरह के वितर्क न देकर टोपी पहनाने का प्रयास नहीं करना चाहिए। जीवों को द्रव्य की स्वतंत्रता समझाकर कर्तृत्व का बोझ कैसे करने की समज देनी चाहिए।

कोई विद्धान ऐसा भी कहता है कि मुझे तो बस इसका मान चाहिए जो मेरे पास है। मेरे पास जो क्षयोपशम ज्ञान है, उसका मान मुझे चाहिए परंतु लोगो को तो उसका भी मान चाहिए, जो उनके पास नहीं है। वह कहता है कि अनिल अंबानी के पास जो है, वह मेरे पास नहीं है। परंतु मेरे पास जो है, वह अनिल अंबानी के पास भी नही है। यदि जीव ऐसे तर्क देकर परोक्षरुप से मान कषाय का पोषण न करके प्रत्येक आत्मा में समद्रष्टि रखकर अपनी विद्धता का आत्मानुभूती की प्राप्ती के लिए ही उपयोग करे तो निश्चितरुप से आत्मानुभूती प्रकट हो सकती है। यदि विद्धान अपनी विद्धता का मान चाहेगा तो धनवान भी अपने धन का मान चाहेगा।

ज्ञानी कहते है कि क्षयोयशमज्ञान हो या धन हो, दोनों वस्तु नदी में बहते हुए पानी के प्रवाह की तरह क्षणिक है। उनके होने से आत्मा में एक गुण भी बढ

नही जाता तथा न होने से आत्मा में से एक गुण भी धट नहीं जाता।

क्षणिक वस्तु के क्षणिकपने का बोध करके त्रिकाल स्थिर टिककर रहनेवाले ज्ञायकभाव का अनुभव करना ही धर्म का मर्म है।

पांच इन्द्रिय तथा मन द्वारा परद्रव्य को जानने में अनादिकाल से बह रही अपनी ज्ञानपर्याय जब परद्रव्य से द्रष्टि हटाकर निजस्वभाव पर केन्द्रित होती है, तब निर्विकल्प आत्मानुभूति होती है। परज्ञेयों का रस छूटे बिना परज्ञेयों से द्रष्टि हटती नहीं तथा ज्ञान की महिमा भी आती नहीं। ज्ञानानंद एक स्वभावी एक ध्रुव ज्ञायकभाव की अनुभूति के लिए परज्ञेयों की आसक्ति से विरक्त होना अनिवार्य है, इसलिए ज्ञानियों ने आत्मा के ज्ञान स्वभाव की अपार महिमा बताई है।

क्षणिक के लक्ष्य से क्षणिक का बोध

क्षणिक के लक्ष्य से हुआ क्षणिक का क्षणिक ही टिकता है। किसी के पुत्र का देहांत हुआ, किसी के पिता का देहांत हुआ, किसी के व्यपार में बहूत घाटा गया, किसी का गंभीर अकस्मात हुआ, इत्यादि धटना के समय होनेवाला क्षणिक का बोध क्षणिक ही टिकता है।

त्रिकाली ध्रुव एक शुद्धात्मा के लक्ष्य बिना हुआ क्षणिक का बोध क्षणिक ही टिकता है।

कभी ऐसा भी होता है कि अकस्मात होने पर पैर तूट जाता है, लेकिन डोक्टर द्वारा ओपरेशन करने के बाद अगर पैर अच्छा हो जाता है, तो क्षणिक का बोध नहीं टिकता। वहां ऐसा लगना चाहिए कि एक क्षण में तूट गया और एक क्षण में ठीक हो गया, यह सब क्षणिक है। इसलिए उसमें लिपटे रहकर त्रिकाली ज्ञायक को भूलना योग्य नहीं।

जीव को जब क्षणिक के लक्ष्य से क्षणिक का बोध होता है तब धर्म याद आता है, लेकिन जब प्रतिकूलता दूर होती है कि क्षणिक का बोध भी विस्मृत हो जाता है। बिमार होते ही धर्म, कर्म, भगवान वगेरे याद आने लगते है। जब तुम्हें समाचार मिले कि तुम्हें केंसर हुआ है, तब दु:खी होने की बजाय ऐसा सोचना कि अच्छा हुआ केंसर हुआ, हार्टऐटेक नहीं आया। हार्टऐटेक आया होता, ये दो महिने धर्म करके लिए मिले है, वे भी न मिलते। अगर केंसर मिट जाये तो भी धर्ममार्ग नहीं छोड देना। धर्म के साथ किया गया मायाचार सबसे खतरनाक है। उसका फल नरक-निगोद में अनंत जन्म-मरण है। क्षणिक का बोध निरंतर टिके उसके लिए स्वरुप का चिंतन करना चाहिए।

नित्य के अनुभव बिना क्षणिक का बोध

चर्चिल एक प्रख्यात वक्ता भी थे। एकबार वे सभा संबोधित करने जा रहे थे, सभाखंड पर पहूंचने के बाद उन्होंने टेक्सी ड्राइवर को कहा कि मैं एक धंटे बाद यहां वापिस आउंगा, तुम यहीं मेरा इंतझार करना टेक्सी ड्राइवर ने कहा श्रीमान मुझे माफ करना, मैं एक धंटे तक आपका इंतझार नहीं देख सकता। तब चर्चिल ने कहा मैं तुम्हें तुम्हारा वेइटिंग चार्ज भी दुंगा। तुम मेरी राह देखना। टेक्सी ड्राइवर ने कहा अभी पांच ही

मिनिट के बाद चर्चिल नाम के महान वक्ता का भाषण शुरु होने जा रहा है, मै अपने धर जाना चाहता हूं, क्योंकि मुझे उन्हें रेडियो पर सुनना चुकना नहीं है।

टेक्सी ड्राइवर की इस बात को सुनकर चर्चिल बहूत ही खुश हुए। उन्हें ऐसा लगा कि मैं कितना महान हूं कि एक साधारण टेक्सी ड्राइवर भी मेरा भाषण सुनने के लिए अपनी रोजगारी छोड देता है। टेक्सी ड्राइवर को इस बात से खुश होकर चर्चिलने टेक्सी ड्राइवर को बडी टीप दी। इतनी बडी टीप मिलते ही टेक्सी ड्राइवर ने कहा, साहेब! चर्चिल की ऐसी की तैसी, आपने मुझे इतनी बडी टीप दी, अब तो चर्चिल का भाषण छोडकर आपके लिए एक धंटे तक यहां आप की राह देखूंगा। यह सुनते ही चर्चिल के अभिमान चुर-चुर हो गया। मान कषाय क्षणिक ही है ऐसा चर्चिल को बोध हुआ। लेकिन उसे क्षणिक का बोध क्षणिक ही टिका क्योंकि नित्य के अनुभव के बिना क्षणिक का बोध नित्य टिकता नहीं।

नित्य के लक्ष्य से हुआ क्षणिक का बोध

क्षणिक के लक्ष्य से हुआ क्षणिक का बोध क्षणिक ही टिकता है। लेकिन नित्य के लक्ष्य से हुआ क्षणिक का बोध नित्य टिकता है।

प्रत्येक जीव को पुदगल की किसी एक विशिष्ट पर्याय में से सुखबुद्धि न छोडकर सभी पुदगल पर्याय में से सुखबुद्धि छोडनी चाहिए। जैसे एक डाली को काटने से वृक्ष का नाश नही हो सकता, वृक्ष को जड मूल से उखाडने से वृक्ष का नाश हो सकता है, ऐसे ही पुदगल की एक पर्याय को भोगने के भाव को छोडने से भोगवृत्ति नहीं छूट जाती। समस्त पुदगल की पर्याय को क्षणिक जानकर, मानकर उसके प्रति पडी हुई भोगवृत्ति को जडमूल से नष्ट की जा सकती है।

जब जीव अनूकुलता से प्रतिकुलता पाता है, तब उसे क्षणिक का बोध होता है। लेकिन प्रतिकूलता से अनुकूलता मिलने पर क्षणिक का बोध नही होता, उसे अनुकूलता में धर्म याद नहीं आता। जब उसे प्रतिकूलता आती है तब वह प्रतिकुलता से दूर भागता है, कोइ सहारा ढूंढता है, क्योंकि उसे प्रतिकुलता के साथ जुडना नही है जिससे वह प्रतिकूलता में धर्म सुनने का योग मिलता है तो सुनता है लेकिन जब उसे अनुकूलता मिलती है तब वह अनुकूलता में इतना तन्मय हो जाता है, जुड जाता है कि उसके पास धर्म को सुनने या समजने के लिए समय ही नहीं होता। इसलिए प्रतिकूलता आते ही सिर्फ प्रतिकुलता के लक्ष्य से ही क्षणिकपने का बोध जीव को नित्य की अनुभूती तक नहीं ले जाता।

नित्य और अनित्य

प्रत्येक वस्तु अनेकांत स्वभाव से युक्त होती है। उस द्रष्टि से पुदगल वस्तु भी द्रव्य अपेक्षा से नित्य तथा पर्याय अपेक्षा से अनित्य ऐसे दोनों रुप में होते हुए भी उसके अनित्य अंश को मुख्य करके ही कथन किया जाता है। उसीप्रकार आत्मा भी द्रव्य अपेक्षा से नित्य और पर्याय पर्याय अपेक्षा से अनित्य ऐसे दोनों रुप में होते हुए भी उसके नित्य अंश को मुख्य करके उपदेश देने में आता है।

जैसे माता बालक को जन्म देती है, उसीप्रकार बारह भावना का चिंतवन करने से वैराग्य प्रगट होता

है। वैराग्य की उत्पादक बारह भावना में सर्वप्रथम क्रम में अनित्य भावना है। वहां अनित्य का चिंतवन करने की प्रेरणा दी है, जबकि श्रीमद राजचन्द्रजी ने आत्मसिद्धि शास्त्र में वर्णित 6 पद में से दूसरे पद में कहा है कि आत्मा नित्य है। वहां आत्मा के नित्यपने का चिंतवन करने का उपदेश दिया है। अज्ञानी पुदगल द्रव्य की पर्याय में सुख मानता है। अपने धर में पडा हुआ कांच का ग्लास फूट जाने के बाद भी परमाणु यथास्थित रहते है, लेकिन ग्लास फूट जाने के बाद उस ग्लास के टुकडे को फेक दिया जाता है क्योंकि अज्ञानी को ग्लास की पर्याय में सुखबुद्धि थी, वह ग्लास पर्याय वर्तमान में व्यय हो चुकी है। अज्ञानी के सुख का आधार पर्याय क्षणिक होने से अज्ञानी का सुख भी क्षणिक ही टिकता है जबकि ज्ञानी के सुख का आधार भगवान आत्मा नित्य होने से ज्ञानी का सुख भी नित्य टिकता है।

अज्ञानी के दु:ख का निमित्त कारण पुदगल द्रव्य नहीं बल्कि पुदगल द्रव्य की पर्याय है और ज्ञानी के सुख का कारण आत्मा की पर्याय नहीं बल्कि आत्मा का द्रव्य स्वभाव है। इसलिए जगत के क्षणिकपने का बोध और आत्मा के नित्यपने का अनुभव करना चाहिए। अरे, करना नहीं चाहिए बल्कि सहज होना चाहिए। क्षणिक का बोध और नित्य के अनुभव की चर्चा करना और यथार्थरुप में क्षणिक का बोध और नित्य का अनुभव होना, इनके बीच में भी बहुत अंतर है।

क्षयोपशमज्ञान में वृद्धि होने के लक्ष्य से क्षयोपशमज्ञान प्राप्त करने से ज्ञायकभाव का अनुभव नहीं होता क्योंकि क्षयोपशमज्ञान पर्याय है, क्षणिक है। क्षयोपशमज्ञान तो प्रतिसमय घटता-बढता है, फिर भी प्रत्येक जिज्ञासु जीव को प्रारंभिक भूमिका में तत्त्व का विधिवत अभ्यास तो करना ही चाहिए। उस बात को अवश्य याद रखना चाहिए कि तत्त्वाभ्यास का फल वैराग्य है, कषाय नहीं।

क्षायिकज्ञान सादि-अनंत होते हुए भी एक की पर्याय होने से क्षणिक ही है। केवलज्ञान के लक्ष्य से भी आत्मानुभूति नहीं होती। पर्याय में अहंबुद्धि करने से निगोद के जीव के दु:ख से भी अधिक दु:ख होता है। निगोद के जीव तो एक श्वासोच्छवास जितने समय में अपना अठारह बार जन्म-मरण मानकर दु:खी होता है, जबकि पर्याय में अहंबुद्धि करनेवाला जीव प्रतिसमय पर्याय के उत्पाद-व्यय के कारण अपना जन्म-मरण मानकर दु:खी होता है।

पूर्णशुद्ध पर्याय में भी एकत्व न करके द्रष्टि के विषयभूत अभेद नित्य एक ज्ञायकभाव में ही एकत्व स्थापित करना चाहिए। उसके लक्ष्य से ही आत्मानुभूति एवं अनंत सुख प्रकट होता है।

जैसे बालक को आग का बोध से आग के पास जाने के मन नहीं होता उसीतरह ज्ञानी को संसार के क्षणिकपने बोध होने पर ज्ञानी को पांच इन्द्रिय के विषयों में सुखबुद्धि नहीं होती। आत्मा का आनंदमय अमृत पी लेने के बाद जगत के असार क्षणिकपने को ज्ञानी एक क्षण के लिए भी नहीं चाहता।

ज्ञानी को आत्मा का अनुभव इन्द्रिय अथवा मन द्धारा नहीं होता, तो फिर अज्ञानी जीव इन्द्रिय अथवा मन द्धारा ज्ञानी के अनुभव को कैसे जान सकता है?

धन का लूंटेरा सिर्फ धन ही लूंटता है। इज्जत का लूंटेरा सिर्फ इज्जत ही लूंटता है। भौतिक वस्तु का लूंटेरा सिर्फ भौतिक वस्तु ही लूंटता है। जबकि श्रद्धा का लूटेरा शिष्य धन, इज्जत, भौतिक वस्तु आदि सभी चीजों को लूंटता है, यहां तक कि श्रद्धा का लूटेरा उसके शिष्य का सारा जीवन ही लूंट लेता है।

आत्मा का स्वरुप

आत्मा का स्वरुप अमूर्तिक होते हुए भी कथंचित वचनगोचर तथा कथंचित वचनअगोचर है। अगर आत्मा को सर्वथा वचनअगोचर मानने में आये तो जिनेन्द्र भगवान की दिव्यध्वनि का भी सर्वथा लोप मानना पडेगा।

यदि आत्मा सर्वथा वचन अगोचर होता तो शिष्य को यथार्थ उपदेश नहीं मिलता। उसके बिना आत्मा की समझ कैसे हो? सत्य ज्ञान की प्राप्ति के बिना शिष्य का मोक्ष कैसे हो? यदि आत्मा सर्वथा वचनगोचर होता तो भगवान अनंतकाल तक आत्मा का उपदेश देते, उस स्थिति में भगवान का मोक्ष कैसे होता? आत्मा अपने वचनगोचर धर्मो द्धारा अपना निर्णय कर सकता है तथा वचनअगोचर धर्मो का अनुमान प्रमाण द्धारा निर्णय कर सकता है।

आत्मा में अनंत गुण होते हुए भी ज्ञान गुण को मुख्य करके आत्मा का उपदेश दिया जाता है। आत्मा तक पहूंचने के लिए ज्ञान रस्सी के समान है। जैसे किसी बालक की उंगली पकड में आने से वह बालक पकडा गया ऐसा कहा जाता है, उसीतरह आत्मा का ज्ञान स्वभाव पकड में आने से आत्मा भी पकड में आ गया ऐसा कहा जाता है।

परम पारिणामिक भाव

जीव के विशेष भाव को जीव का असाधारण भाव कहते है। उसके 5 भेद तथा 53 प्रभेद है। उसके 5 भेद में से पारिणामिक भाव अंतिम क्रम पर है। पारिणामिक भाव कर्मोपाधि निरपेक्ष भाव होने से जीव में नित्य टिककर रहता है। प्रथम चार औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक भाव क्रमश: कर्म के उपशम, क्षय, क्षयोपशम तथा उदय की अपेक्षा रखते है इसलिए वे पर्याय है, पर सापेक्ष है। परिणामिक भाव में कर्म की या पर की कोई अपेक्षा नही होती इसलिए वह द्रव्य का स्वभाव है, पर निरपेक्ष है।

पारिणामिक भाव सर्व जीवो में त्रिकाल टिककर रहता होने पर भी उसके तीन भेद है। 1.जीवत्व 2.भव्यत्व 3.अभव्यत्व। जो जीव भव्य है, वह कभी अभव्य नही हो सकता तथा जो जीव अभव्य है वह कभी भव्य नहीं हो सकता। भव्य जीव अनादि-अनंत भव्य होता है तथा अभव्य जीव अनादि-अनंत अभव्य होता है इसलिए भव्यत्व तथा अभव्यत्व को जीव का परिणामिक भाव कहते है।

भव्यत्व नाम का परिणामिक भाव भव्य जीवो में ही होता है, अभव्य जीवो में नही तथा अभव्य नाम का पारिणामिक भाव अभव्य जीवो में होता है, भव्य जीवो में नहीं परंतु जीवत्व नाम का पारिणामिक भाव भव्य तथा अभव्य दोनों प्रकार के जीवो में होता है, अत: जीवत्व नाम के परिणामिक भाव को जीव का परम पारिणामिक भाव कहते है। मैं आहार-पाणी से नहीं जीता हूं और ना ही आयुकर्म के उदय से भी जीवित हूं। आहार-पाणी बहिरंग निमित्त है तथा आयुकर्म का उदय अंतरंग निमित्त है। मेरा जीवन उपादान शक्ति के कारण है। जीवत्व शक्ति से मेरा जीवन है।

द्रष्टि का विषय

व्यवहारनय से आत्मा शरीर में रहता है तथा आत्मा में राग-द्वेष रहते हैं। जिस शरीर में आत्मा रहता है उस शरीर से आत्मा भिन्न है तथा आत्मा में राग-द्वेष रहते है, उन राग-द्वेष से भी आत्मा भिन्न है। आत्मा जिस शरीर में रहता है, वह शरीर परद्रव्य है, संयोग है तथा आत्मा में जो राग-द्वेष रहते है वे परभाव है, संयोगीभाव है। निश्चयनय से आत्मा, आत्मा में ही रहता है। आत्मा, आत्मा ही है।

जिसके लक्ष्य से कार्य होता है, उस कार्य को उसका कहा जाता है। जैसे दरजी का कार्य कपडा सीने का होते हुए भी कपडा सीने को ग्राहक का कार्य कहते है क्योंकि ग्राहक के लक्ष्य से ही दरजी के द्वारा कपडे सीये जाते है, उसीप्रकार पुदगल के लक्ष्य से आत्मा में राग उत्पन्न होता है इसलिए राग को पुदगल का परिणाम कहा है। लेकिन राग को सर्वथा पुदगल मानने से चेतन की एक समय की पर्याय अर्थात चेतन के अंश को पुदगल ही मान लेने से सर्वथा एकांत का प्रसंग आयेगा। जिसने राग का वर्तमान पर्याय में स्वीकार किया होगा, उसे ही वीतरागता प्रगट होने पर आनंद आयेगा। अगर राग को सर्वथा पर मानने में आवे तो राग के अभाव से प्रगट होनेवाली वीतरागता का भी सर्वथा अभाव मानना पडेगा।

निश्चय द्रष्टि से विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे प्रत्येक मनुष्य अपने पिता एवं पुत्र से भिन्न है, उसीप्रकार आत्मा भी शरीर तथा राग-द्वेष से भिन्न है। वहां जैसे पिता को छोडना जितना सरल है, पुत्र को छोडना उतना सरल नहीं है, उसीप्रकार शरीर का एकत्व छोडना जितना सरल है, राग-द्वेष का एकत्व छोडना इतना सरल नहीं है।

अज्ञानी को राग-द्वेष सीखाने नहीं पडते, उसे अनादिकाल से रागादि भाव का पोषण करने का अभ्यास है। वीतरागभाव का अभ्यास नहीं होने से उसे वीतरागभाव रुचता नहीं है तथा उसकी समझ भी कठिन लगती है। जीव को वीतरागभाव की प्राप्ती के लिए निजात्मा में उत्पन्न होनेवाले रागादि भावों से छूटने से पहले दूसरे जीवो में उत्पन्न होनेवाले रागादि भावो से अलिप्त रहने का अभ्यास करना चाहिए।

दूसरे जीवो में उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेषरुपी विकारी भाव मेरे लिए आश्रव तत्त्व नहीं है, परंतु अजीव तत्त्व है। इसलिए दूसरे जीवो में उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेष मेरे लिए ज्ञेयमात्र है, जबकि स्वयं में उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेष स्वयं के लिए आश्रव तत्त्व है, इसलिए हेय है। दूसरे जीवो में उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेष को दूर करने की जिम्मेदारी मेरी नही है, स्वयं के राग-द्वेष को दूर करना ही मेरा कर्तव्य है।

इसीप्रकार श्री कानजीस्वामी को प्रकट हुआ सम्यग्दर्शन और महावीर भगवान को प्रकट हुआ मोक्ष मेरे लिए अजीव तत्त्व है। स्वद्रव्य के अतिरिक्त जीवादि परद्रव्य, गुण और पर्याय को अजीव तत्त्व कहते है। द्रष्टि के विषयभूत जीव तत्त्व में महावीर भगवान तो नहीं है, साथ-साथ मोक्ष आदि पर्यायों में भी महावीर आदि जीवों को स्थान नहीं है।

श्रद्धान में ऐसा मानना चाहिए कि मैं त्रिकाल शुद्ध ज्ञायकभाव हूं और ज्ञान में ऐसा जानना चाहिए कि वर्तमान में अशुद्ध रागादिभाव सहित हूं। ज्ञानी की द्रष्टि में ज्ञायकभाव ही होते हुए भी ज्ञानी वर्तमान

पर्याय की अशुद्धता को भी जानता है।

द्रष्टि का विषय तो एक, अखंड, नित्य, अभेद होते हुए भी द्रष्टि में सम्यकपना प्रकट न होने से आत्मा का अस्तित्व होते हुए भी आत्मा द्रष्टि में आता नहीं है। द्रव्य का द्रव्यपने से अभाव होता नहीं है, जब भी ज्ञान पर्याय में से अभाव होता है, तब ऐसा कहा जाता है कि द्रव्य खो गया है। वास्तव में द्रव्य कभी खोता नहीं। द्रव्य का ज्ञान खो जाता है।

अपने मित्र के साथ रेस्टोरंट में खाते समय वेइटर इधर-उधर धूमता रहता है, जिससे स्वयं को कोई असर नहीं होती क्योंकि वेइटर प्रयोजनभूत नहीं है। लेकिन अपना मित्र स्थिर न बैठकर वेइटर की तरह धूमने लगे तो स्वयं विचलित होने लगेगा। उसीप्रकार पर्याय परिवर्तनशील है, फिर भी वह द्रष्टि का विषय नहीं होने से और द्रष्टि का विषय स्थिर ध्रुव होने से परिणमनशील पर्याय भी सत्ता स्वरुप होते हुए भी विकल्प का कारण नहीं बनती।

पर्याय मेरा ध्यान करती है

श्री नेहालचंदजी सौगानी ने द्रव्यद्रष्टि प्रकाश में कहा है कि जरा सी भूल भी पूरी भूल है। पर्याय ध्यान करनेवाली है और मैं ध्यान की विषयभूत वस्तु हूं, पर्याय मेरा ध्यान करती है। मैं ध्यान करनेवाला नहीं।

मैं ध्यान करु इस बात में और मैं ध्यान करनेवाला नहीं, मैं तो ध्यान का विषय हू, इस बात में थोडा फर्क लगता है, लेकिन रात-दिन जितना बडा फर्क है। एक में पर्याय द्रष्टि है, दूसरे में द्रव्य द्रष्टि है।

मैं जीव द्रव्य नहीं, बल्कि जीव तत्त्व हूं

जीव द्रव्य प्रमाण का विषय है और जीव तत्त्व परम शुद्ध निश्चयनय का विषय है। जीव द्रव्य पर्याय सहित है तथा जीव तत्त्व पर्याय रहित है। छह द्रव्य को समजने से छह द्रव्य के समूहरुप विश्व के स्वरुप का यथार्थ ज्ञान होता है। सात तत्त्व को समजने से समस्त पर पदार्थो से भिन्न अपनी पर्यायों से कथंचित भिन्न एकाकार आत्मा का स्वरुप समज में आता है। आगम पद्धति से जगत को समजने के लिए छह द्रव्यों का अभ्यास करना चाहिए। अध्यात्म पद्धति से जगत को समजने के लिए सात तत्त्वों का अभ्यास करना चाहिए।

जीव द्रव्य की द्रष्टि से महावीर ही मारीचि थे और मारीचि ही महावीर हुए, यह बात परम सत्य है। फिर जीव तत्त्व की द्रष्टि से मारीचि, मारीचि नहीं है। महावीर, महावीर नहीं है। मारीचि आत्मा है और महावीर भी आत्मा है।

जीव द्रव्य को पहचाचने से जीव के विशेष भेद-प्रभेद का ज्ञान होता है, जिससे पूजा-भक्ति का व्यवहार, अहिंसात्मक आचरण और सदाचारमय जीव जीने की कला प्रकट होती है। जीव तत्त्व की ओर द्रष्टि करने से जीव द्रव्य की पर्याय अशुद्ध से शुद्धरुप में परिणमित होती है। जीव तत्त्व की ओर द्रष्टि करने से पर्याय में रहे हुए मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का नाश होता है और पर्याय में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र प्रकट होता है।

जीव द्रव्य और जीव तत्त्व आदि विषयों का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करने के बाद ही वैराग्य प्रकट होता है।

पर पदार्थ के सत्य स्वरुप को जाने बिना पर पदार्थ सुखरुप नहीं है, ऐसा वैराग्य प्रकट नहीं होता।

जीव द्रव्य कहते संसारी-मुक्त, अज्ञानी-ज्ञानी आदि जीव के भेदों का ज्ञान होता है। सर्व जीवों के प्रति समद्रष्टि का भाव प्रकट होता है। आत्मा अतीन्द्रिय सुख को प्राप्त करे ऐसा भाव जागृत होता है।

आत्मद्रव्य को श्रद्धा गुण की पर्याय से सर्वथा भिन्न मान लिया जाय तो जैसे परपदार्थ में अपनापन करने से मिथ्यात्व का दोष उत्पन्न होता है, उसीतरह निजात्म द्रव्य में अपनापन करने से मिथ्यात्व का दोष उत्पन्न होता है। इसलिए आत्मा को आत्मा की पर्याय से सर्वथा भिन्न नहीं समजना चाहिए।

यदि जीव वर्तमान में रागादिभाव सहित है तथा स्वयं को रागादिभाव सहित मानता है, उस जीव को वीतराग भाव प्रकट होने का सुख अनुभव में आयेगा।

दो प्रकार के लोग वैद्य के पास नहीं जाते है। 1. जो बिमार नहीं है। 2. जिनकी बिमारी कभी मिट नहीं सकती। जो व्यक्ति बिमार है तथा उसकी बिमारी मिट सकती है, उस व्यक्ति को शीध्रातिशीध्र वैद्य के पास जाना चाहिए। उसीप्रकार जो जीव स्वयं को वर्तमान पर्याय में राग सहित मानता है तथा रागभाव जीव की एक समय की पर्याय है, वह क्षणिक होने से उसका नाश हो सकता है ऐसी मान्यतावाले जीव को शीध्रातिशीध्र संसारी कार्य को छोडकर सदगुरुपी वैद्य के पास जाना चाहिए।

जीव द्रव्य की अपेक्षा से स्थावर तथा त्रस जीवो के भेद उत्पन्न होते है। यदि इस भेद का स्वीकार नहीं किया जाय तो सदाचार की सिद्धि नहीं होती। दो इन्द्रिय से पांच इन्द्रिय के जीव के शरीर को मांस कहते है। एकेन्द्रिय जीव के शरीर को मांस नहीं कहते। इसलिए पंचेन्द्रिय जीव के धात की तुलना में एकेन्द्रिय जीव के धात का पाप अल्प कहा है। पंचेन्द्रिय के भक्षण से एक पंचेन्द्रिय जीव का ही नहीं, परंतु उसके अंदर रहते हुए अनंत निगोद के एकेन्द्रिय जीव का भी धात होता है।

मांसभक्षण करनेवाले को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति भी नहीं हो सकती। जबकि दूसरी ओर केवली भगवान को श्वासोच्छवास की क्रियारुप में वायुकायिक जीव भी शरीर में जाते है फिर भी केवलज्ञान में कोई बाधा नही आती।

जैसे हिंदुस्तान अमरीका नहीं जा सकता लेकिन हिंदुस्तानी अमरीका जा सकता है। उसीतरह एक द्रव्य अन्य द्रव्य में परिणमित नहीं होता तथा हो भी नही सकता लेकिन जीव की मान्यता परपदार्थ में अप-नेपन के रुप में हो सकती है।

ज्ञान की पर्याय में क्षणिकपने का ज्ञान होने से ज्ञान क्षणिक है ऐसा जानना ही विकल्प है। आत्मद्रव्य की ज्ञान की पर्याय में आत्मा का ज्ञान नहीं होता है, यही दु:ख है। जैसे किसी प्रेमीका के प्रेमी की याद विस्मृत हो गई हो तो प्रेमिका की यह इच्छा होती है कि मेरे प्रेमी कि याददाश्त वापिस लौट आये और उसकी याद में, मैं वापिस आ जाउं, उसीप्रकार मुमुक्षु की यह भावना होती है कि आत्मा की पर्याय शुद्धरुप में परिणमित हो, जिससे अज्ञान दूर होकर सम्यग्ज्ञान प्रगट हो और सम्यग्ज्ञान पर्याय में आत्मा जानने में आये। इतना ही नहीं, प्रेमिका ऐसा भी चाहती है कि मेरे प्रेमी की याद पुन: लौटने पर मेरा प्रेमी मुजे ही जाने परस्त्री को न जाने उसीप्रकार ज्ञानी सम्यग्ज्ञान प्रगट होने पर निजात्मा को जाने वही सुख है। रागादि विकल्पों को जानना और अपने आत्मा को न जानना ही दु:ख है।

वहां प्रेमी और प्रेमिका एक साथ में होते हुए भी एक साथ नहीं है क्योंकि प्रेमी को प्रेमिका का ज्ञान नहीं है, उसीप्रकार आत्मा की पर्याय तथा आत्मा एक साथ होते हुए भी एक साथ नहीं है, क्योंकि पर्याय स्वभाव का लक्ष्य नहीं करती है।

जिस पदार्थ में अपनापन होता है वह पदार्थ सहज सच्चा और अच्छा हो जाता है। सम्यग्दर्शन होते

ही ज्ञान और चारित्र सम्यक हो जाते है।

ज्ञान का कार्य विचार है तथा श्रद्धा का कार्य प्रतीति है। ज्ञानपर्याय में जो विचार चलते है, श्रद्धा गुण उसमे प्रतीति करती है। जैसे राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के बिना रखा गया प्रस्ताव कानून नहीं बनता उसीप्रकार श्रद्धा द्रढ हुए बिना ज्ञान में चलते आत्मा संबंधी विचारों को सम्यग्ज्ञान नहीं कहा जाता। राष्ट्रपति का कार्य मात्र हस्ताक्षर करना है तथा उनके नीचे काम कर रहे 500 लोगों का कार्य विचार करना है। यदि राष्ट्रपति को उन 500 लोगों के विचार स्वीकृत नहीं हो, तो वे उन 500 लोगो को पुन: विचार करने के लिए कहते है, लेकिन स्वयं विचार करते नहीं। उसीप्रकार श्रद्धा गुण का कार्य ज्ञान में होनेवाले विचारों में सिक्का मारने का है। अगर श्रद्धा को ज्ञान में होनेवाले विचारों का स्वीकार न हो तो श्रद्धा सोचने का कार्य नहीं करती। ज्ञान ही सोचने का कार्य करता है।

जितना समय विचार करने में लगता है, उतना समय सही करने में नहीं लगता। उसीप्रकार ज्ञान का उपार्जन करने में जितना समय लगता है, उतना समय सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में नहीं लगता। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति एक समय में हो जाती है। जैसे परिवर्तनशील वोच को मात्र वोच ही करते है। ऐसे ही परिवर्तनशील जगत को मात्र वोच ही करना है।

धन आदि संपत्ति को लूंट सकते है, लेकिन ज्ञानरुपी संपत्ति को ज्ञानी पास से कोई लूंट नहीं सकता। जो कि ज्ञानी ज्ञानप्रदान करना चाहे तो ज्ञानप्रदान कर सकता है, लेकिन श्रद्धाप्रदान नहीं हो सकती।

एक साधारण विद्धान भी तत्त्व का ज्ञान दे सकता है, लेकिन तीन लोक के नाथ परमात्मा भी अन्य जीव को तत्त्व की श्रद्धा कराने में समर्थ नहीं है। करने में कमजोरी है, जानने में अनंत शक्ति है। केवली भगवान एक परमाणु का भी परिणमन करने में समर्थ नहीं है, लेकिन सारे लोकालोक को जानने में समर्थ है।

आत्मा निराकार नहीं है

प्रत्येक द्रव्य में प्रदेशत्व नाम का सामान्य गुण होता है। आत्मा जीव द्रव्य है इसलिए आत्मा का भी कोई न कोई आकार अवश्य होता है, फिर भी आत्मा का आकार ईन्द्रिय के द्धारा अनुभव में आता नहीं तथा निर्विकल्प अनुभूति के समय आत्मा का आकार द्रष्टि का विषय नहीं बनता इसलिए आत्मा को निराकार कहा जाता है।

सिद्ध भगवान को भी आकार होता है। अंतिम शरीर से किंचित न्यून पुरुषाकार के रुप में सिद्ध भगवान होते है। जैसे पानी जिस पात्र में रहता है, उस पात्र के अनुरुप पानी का आकार होता है। उसीतरह संसारी जीव देहप्रमाण होते है। जो कि सिद्ध भगवान अशरीरी होते हुए भी साकार है। जैसे पानी को बर्तन में भरकर फ्रिज में रखने से थोडे समय बाद बरफ हो जायेगा, उस बरफ को बर्तन से दूर करने के बाद भी उसका आकार अंतिम बर्तन जैसा ही रहेगा, उसीप्रकार सिद्ध भगवान का आकार भी अंतिम देहप्रमाण समजना चाहिए। जो कि बरफ का आकार अंतिम पात्र से थोडा कम होता है, जिससे वह बर्तन से अलग होता है, उसीतरह सिद्ध भगवान का आकार भी अंतिम देह से थोडा छोटा होता है जिससे अंतिम देह से मुक्त होकर लोक के अग्रभाग में बिराजमान होते हैं।

जैसे बरफी का टुकडा आकार सहित है, ऐसे आत्मा भी आकार सहित है। जैसे बरफी का अनुभव

होता है, उस समय भी बरफी को चबाते समय कोई न कोई आकार तो अवश्य होता है, उसीतरह आत्मा के अनुभव के समय भी आत्मा का कोई न कोई आकार तो अवश्य होता है। जैसे बरफी को चबाते समय भी बरफी का आकार अनुभव में आता नहीं, उसकी मीठास का ही अनुभव होता है, ऐसे आत्मानुभव में आत्मा के आकार का अनुभव नहीं होता, आत्मा के आनंद आदि अनंत गुणों का अभेद एक स्वरुप वेदन ही होता है। जैसे बरफी के आकार की ओर द्रष्टि जाने से उसकी मीठास का अनुभव छूट जाता है। ऐसे ही आत्मा के आकार की ओर द्रष्टि जाने से आत्मा का अतीन्द्रिय आनंद भी छूट जाता है।

जैसे अनुभूति के समय लोकालोक जैसा है वैसा ही रहता है, उसीप्रकार निर्विकल्प आत्मानुभूति के समय आत्मा का आकार भी यथावत रहता है। आत्मानुभूति के समय लोकालोक संबंधी विकल्पों के अभाव की तरह आत्मा का आकाररुप विकल्प का भी अभाव समजना चाहिए, यही कारण है कि आत्मानुभूति को निर्विकल्प आत्मानुभूति कहते है।

स्व-पर प्रकाशक ज्ञान स्वभाव

आत्मा मात्र स्व को जानता है इसलिए स्वप्रकाशक है ऐसा मानना एकांत है। आत्मा मात्र पर को जानता है इसलिए परप्रकाशक है ऐसा मानना भी एकांत है। आत्मा ज्ञान स्वभाव द्धारा स्व और पर दोनों को जानता है, ऐसा मानना अनेकांत है। केवली भगवान को ज्ञान का स्व-परप्रकाशकपना पूर्णरुप से व्यक्त होने के कारण केवली भगवान को लोकालोक का ज्ञाता कहा जाता है। केवली भगवान स्वयं को जानते है तथा संपूर्ण जगत के केवली भगवान के ज्ञान में जानने में आता है।

सम्यग्ज्ञान के 5 प्रकार है, उनमें से मतिज्ञान, श्रुतज्ञान तथा केवलज्ञान स्व और पर दोनों को जानते है। अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान मात्र पर को ही जानते है। ऐसे 5 में से 5 ज्ञान पर को जानते है तथा 3 ज्ञान स्व को जानते है। इसलिए आत्मा के पर प्रकाशकपने का निषेध नहीं करना चाहिए।

समयसार में कहा है कि दीपक स्व और पर दोनों को प्रकाशित करता है। उसीप्रकार आत्मा स्व और पर दोनों को जानता है। स्व को प्रकाशित करने के काल में दीपक, दीपक ही है और पर को प्रकाशित करने के काल में दीपक, दीपक ही है। उसीप्रकार आत्मा के विषय में भी समजना कि जब आत्मा स्व को जानता है तब आत्मा मात्र आत्मा है, ऐसे ही आत्मा को पर को जानता है तब भी आत्मा स्वयं आत्मा ही है, परवस्तु नहीं है।

व्यवहार से ज्ञान को ज्ञेय का कहने में आता है। शरीर का ज्ञान, टेबल का ज्ञान अथवा किसी भी विषय का ज्ञान, निश्चय से ज्ञान मात्र ज्ञान है। ज्ञान आत्मा के साथ अभेद तथा अखंड रहता है। जब अज्ञानी, ज्ञेयाकार ज्ञान से द्रष्टि हटाकर ज्ञानाकार ज्ञान की ओर द्रष्टि करता है तब अपने ज्ञान स्वभाव का अनुभव करता है।

निर्विकल्प आत्मानुभूति के समय परज्ञेय मुझसे भिन्न है, ऐसा विकल्प भी उत्पन्न नहीं होता। उस समय आत्मा पर को नहीं जानता है, फिर भी आत्मा का परप्रकाशक स्वभाव खंडित नहीं होता। जैसे अनादिकाल से आत्मा मात्र पर को जानते हुए भी आत्मा स्वप्रकाशक स्वभाव खंडित नहीं हुआ तो स्व को जानने के काल में परप्रकाशक स्वभाव कैसे खंडित हो सकता है? अर्थात कभी नहीं हो सकता।

राग-द्धेष के विकारीभाव तथा ज्ञान ये दोनों का उत्पत्ति स्थान एक आत्मा है, जैसे दीपक में से

प्रकाश और धुंआ उत्पन्न होता है। ऐसे आत्मा में से ज्ञान और राग उत्पन्न होता है। जैसे धुंआ दीपक का स्वभाव नहीं है, उसीतरह राग-द्वेष आत्मा का स्वभाव नहीं है, दीपक का लक्षण प्रकाश है, आत्मा का लक्षण ज्ञान है। इसलिए मैं ज्ञान स्वभाव यही द्रष्टि में होना चाहिए।

यहां तक कि राग को जाननेवाला ज्ञान भी आत्मा का मूल स्वभाव नहीं है। ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, ज्ञानस्वभावी आत्मा में एकत्व स्थापित किये बिना धर्म की शुरुआत नहीं होती है।

जो कि आत्मा में अनंत गुण है, फिर भी अनंतगुण वचनगोचर नहीं है, संख्यात गुण ही वचनगोचर है। वचनगोचर गुणो द्वारा अभेद आत्मा का निर्णय हो सकता है। अनंतगुणो को जाननेवाले केवली भगवान अनंतगुणों को वचन द्वारा व्यक्त नहीं कर सकते तो अनंतगुणों नहीं जाननेवाला अज्ञानी अनंतगुणों को वचन द्वारा कैसे व्यक्त कर सकता है?

वचनगोचर गुणों में भी ज्ञान गुण प्रधान है। ज्ञान गुण की पर्याय में परिपूर्णता प्रकट होने पर भगवान की दिव्यध्वनि खिरती है। दिव्यध्वनि द्वारा जिनशासन का उदय होता है। आत्मा स्व और पर दोनों जानता है। आत्मा का स्व-पर प्रकाशकपना मानने पर ही आत्मा सर्वज्ञ स्वभाव सिद्ध होता है। सर्वज्ञपना प्रकट होने से पहले सर्वज्ञता की श्रद्धा होती है। सर्वज्ञपना प्रकट होना अर्थात केवलज्ञान होना और सर्वज्ञपने की श्रद्धा होना अर्थात सम्यग्दर्शन होना। अपनी अल्पज्ञता का स्वीकार का किये बिना सर्वज्ञ की सत्ता का स्वीकार नहीं हो सकता।

वर्तमान में अल्पज्ञ होते हुए भी जितना ज्ञान का अंश प्रगट है, उसका सदुपयोग करने में आये तो पर्याय में भी ज्ञान की पूर्णता हो सकती है। अज्ञानी को रागादिभावों की ही महिमा होने से तथा ज्ञान स्वभावी आत्मा की पहिचान न होने से राग-द्वेष के बिना जीवन कष्टदायक लगता है। उसने अपना अस्तित्व रागी तथा द्वेषी के रुप में ही माना है, जिससे राग-द्वेष के नाश होने को आत्मघात समान दु:खदायक मानता है। ज्ञान निरंतर निर्लेपरुप से मात्र जानता ही है, जानने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं करता है।

पर को जानने की आवश्यकता है क्योंकि जीव पर में ही अटकता है। पर से हटकर आश्रय लेने योग्य स्थान निज आत्मा है, इसलिए स्व को जानना भी अनिवार्य है।

ज्ञान मात्र जानता है, जिसे ज्ञान जानता है, श्रद्धा गुण की पर्याय उसमें अपनापन करती है तथा चारित्रगुण की पर्याय उसमें राग-द्वेष करती है। श्रद्धा तथा चारित्र गुण की पर्याय में ही मलिनता है।

ज्ञान गुण की पर्याय नित्य शुद्धरुप से परिणमित हो रही है। पदार्थ का ज्ञान होने के बाद जब मोह, राग और द्वेष के भाव उत्पन्न होते है, तब विकारी भाव से पहले उत्पन्न हुए ज्ञान को व्यवहार से अज्ञान कहा जाता है।

स्व सहित परको जाननेवाला स्व-पर प्रकाशक आत्मा जगत में सर्वोत्कृष्ट महिमावंत पदार्थ है। अज्ञानी स्व को तो जानता नहीं, साथ ही पर को भी जानता नहीं, एकत्व सहित पर का ज्ञान भी अज्ञान समान है। जब आत्मा स्व को एकत्वपूर्वक जानता है, तभी पर को पररुप में जानता है। स्व और पर को यथार्थरुप में जानना यही स्व-पर का प्रकाशन है।

ज्ञान की पर्याय पर को जानती है उससे परज्ञेय की सिद्धि होती है। ज्ञान की पर्याय पर को जानती है यह सिद्ध होता है। ज्ञान की पर्याय परको मात्र जानती है जिससे पररुप में परिणमन नहीं होता है, यह

भी सिद्ध होता है। पर को जाननेवाला ज्ञायक है, स्व को जाननेवाला भी ज्ञायक है, परज्ञेय तथा स्वज्ञेय के भेद से ज्ञायक के दो भेद न करके जाननेवाला तत्त्व मैं ज्ञायक हूं ऐसा चिंतन करना चाहिए।

ज्ञेयाकार ज्ञान भी ज्ञानाकार ज्ञान है

अनेकाकार ज्ञान भी एकाकार है। अज्ञानी की द्रष्टि ज्ञेयाकार ज्ञान पर होती है, जबकि ज्ञानी की द्रष्टि ज्ञानाकार ज्ञान पर होती है।

जैसे मिट्टी अनेकाकार होते हुए भी मिट्टी एक मिट्टी आकाररुप में ही रहती है, उसीतरह ज्ञान अनेक ज्ञेयाकार होते हुए भी ज्ञान एक ज्ञानाकाररुप में ही रहता है।

अज्ञानी ज्ञेयों के भेदरुप रस को चखता है जबकि ज्ञानी अभेद ज्ञान रस का ही आस्वादन करते है।

ज्ञेयाकार ज्ञान खंड-खंडरुप है जबकि ज्ञानाकार ज्ञान अखंड है। अज्ञानी को ज्ञेयों का ही रस होने से उसे ज्ञानाकार ज्ञान भी ज्ञेयाकार लगता है। ज्ञेयों को जानने से ज्ञान कभी ज्ञेयरुप नहीं हो जाता। ज्ञेयों का ज्ञायक ज्ञेय-ज्ञायक संबंध होते हुए भी ज्ञायक में ज्ञेयकृत अशुद्धता उत्पन्न नहीं होती इसलिए ज्ञानी ज्ञेय को जानते हुए भी अपने ज्ञान का ही अनुभव करते है।

ज्ञेयाकार ज्ञान खंड-खंडरुप है, जबकि ज्ञानाकार ज्ञान अखंड है। अज्ञानी को ज्ञेयो का ही रस होने से उसे ज्ञानाकार ज्ञान भी ज्ञेयाकाररुप में ही मालूम पडता है। ज्ञेयो को जानने से ज्ञान कभी भी ज्ञेयरुप नहीं हो जाता। ज्ञेयो का ज्ञान के साथ ज्ञेय-ज्ञायक संबंध होते हुए भी ज्ञायक में ज्ञेयकृत अशुद्धता उत्पन्न नहीं होती। इसलिये ज्ञानी ज्ञेयो को जानते हुए भी अपने ज्ञान का ही अनुभव करते है।

जैसे किसी व्यक्ति को प्यास लगी है, उसके सामने पानी के दो नल है। उन दोनों नल में से एक नल से तुटक-तुटक, बुंद-बुंद पानी टपकता है और दूसरे नल से अतुटक धाराप्रवाह से पानी का प्रवाह चलता है, तो पियासु अतुट धाराप्रवाह से चलते पानी के समीप जानकर अपनी प्यास छिपाता है। उसीप्रकार ज्ञानी अखंड ज्ञानाकार ज्ञान का ही आनंद लेते है। खंड-खंडरुप ज्ञेयाकार ज्ञान का नहीं।

ज्ञेयाकार ज्ञान खंड-खंडरुप होने से वह अखंड आनंद का कारण नहीं है, लेकिन ज्ञानाकार ज्ञान निरंतर अविरत धाराप्रवाह से अखंड परिणमित होने से ज्ञानाकार ज्ञान अखंड आनंद का कारण है। जैसे सब्जी खाते वक्त जो खारेपने का अनुभव होता है, वह सब्जी का नहीं बल्कि नमक का है। उसीतरह ज्ञेय को जानते समय जिस ज्ञान का अनुभव होता है, वह ज्ञान, ज्ञेय का नहीं लेकिन आत्मा का है। जैसे-अकेला नमक खाने में आता नहीं, उसे किसी न किसी सब्जी के साथ में ही खाने में आता है। उसीतरह अकेला ज्ञान कभी अनुभव में आता नहीं, ज्ञान प्रतिसमय किसी न किसी ज्ञेय को जानते हुए ही अनुभव में आता है इसलिये जैसे कहा गया है कि दाने-दाने पर खानेवाले का नाम लिखा है, उसीतरह ज्ञेय-ज्ञेय पर समय-समय पर उस ज्ञेय को जाननेवाले ज्ञान का नाम लिखा हुआ है।

जैसे किसी थेली में नमक भरा हुआ है और थोडे समय के बाद उसमें से नमक बाहर निकालने में आये और उसके बाद खाली थेली के अंदर चाटने से जो खारेपने का अनुभव होता है वह खारापना थेली का नहीं लेकिन नमक का है। ऐसे ही किसी भी काल में ज्ञान ज्ञेय का नहीं होता है, ज्ञान-ज्ञान रुप में ही

रहता है। जैसे नमक और सब्जी मिले हुए होने पर भी नमक के खारेपन का स्वभाव सब्जी में मिलता नहीं। ऐसे ही ज्ञेयो को जानते हुए भी ज्ञान का वेदनरुप स्वभाव ज्ञेयो में मिल नहीं जाता-मिल नहीं सकता। जैसे- सब्जी अनेक रंगो की होती है (आज-कल तो सिमला मिर्ची नीले-पीले-लाल-हरे वगेरे रंगो में भी मिलती है) लेकिन नमक तो एक उज्ज्वल सफेद ही होता है, ऐसे ही ज्ञेय विविध प्रकार के होते है लेकिन ज्ञान को मात्र शुद्ध एकरुप ही होता है।

मैं कौन हूं?

क्षणिक का बोध और नित्य का अनुभव होने पर ज्ञानी जगत के अनेकांत स्वरुप को सहज रुप से जानता है, मानता है। ज्ञानी को आत्मा के साथ ऐसी एकत्वबुद्धि स्थापित हुई होती है कि जब भी वे विचार करते है, तब पता चलता है कि वे देहधारी है जबकि दूसरी ओर अज्ञानी की करुणदशा ऐसी होती है कि उसे विचार करने पर भी इस बात का एहसास नहीं होता कि वह शरीर से भिन्न आत्मा है।

एक समय के लिए भी प्रतीति विचलित नहीं होनी चाहिए कि मैं आत्मा हूं और शरीरादि समस्त पर पदार्थो से सर्वथा भिन्न हूं। आजतक इन अज्ञानीजनों ने मुझे पहचाना ही नहीं, जो लोग मेरी प्रशंसा कर रहे है उनकी द्रष्टि मेरे संयोग तथा पर्याय पर ही है, इसलिए वह प्रशंसा मेरी नहीं है ऐसा मानकर उस समय उस प्रशंसा से पुष्ट होनेवाले कर्तृत्वभाव को दूर करना चाहिए। उसीतरह जो लोग मेरी निंदा कर रहे है उनकी द्रष्टि भी मेरे संयोग और पर्याय पर ही है, इसलिए वह निंदा मेरी नहीं है, ऐसा मानकर उस निंदा से पुष्ट होनेवाले कर्तृत्वभाव को भी दूर करना चाहिए।

मेरे असली स्वरुप को कोई अज्ञानी जानता ही नहीं है। इसलिए वह मुझे भले ही किसी भी रुप में जानता हो, उसका खेद करना योग्य नहीं है। उसके ज्ञान और श्रद्धान से मैं उसरुप नहीं हो जाता। इतना जरुर होगा कि उसका ज्ञान और श्रद्धान मिथ्या नाम से जाने जायेंगे। उसके मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान भी मेरे लिए ज्ञेयमात्र है। ज्ञानी मुझे सत्य स्वरुप में जानते है, मानते है। ज्ञानी की द्रष्टि में मैं आत्मा हूं, परमात्मा हूं, यही मेरे लिए गौरव का अनुभव करने योग्य है।

मैं एक हूं, मैं शुद्ध हूं

आत्मा को स्वभाव की द्रष्टि से देखने से यह प्रतीत होता है कि आत्मा एक है, शुद्ध है। दो द्रव्य के मिश्रण से अशुद्धता पैदा होती है। आत्मा अनादि-अनंत स्वयं स्वतंत्र द्रव्य है, उसका किसी अन्य द्रव्य में प्रवेश नहीं है और ना ही अन्य द्रव्य का उसमें प्रवेश है। पूज्य कानजीस्वामी कहते थे कि खेल के 13 पत्तो में राजा से भी उच्चा पत्ता एक्का है, समयसार में कहा हे कि अहमेक्को खलु सुद्धो। मैं एक हूं, निश्चय से शुद्ध हूं।

मैं एक हूं अर्थात मै अकेला हूं, ऐसा नहीं लेकिन अनंत गुणो की एकतावाला मैं आत्मा हूं।

अनंत गुणो का संगठन जिसमें है, ऐसा एक आत्मा मैं स्वयं हूं। जब जीव को ऐसा एहसास होता है

कि जगत में मैं एक ही हूं, उसे एकांत में रहना कहते है। जब समस्त रुपी (द्रश्यमान) पदार्थ ज्ञान में अद्रश्य हो जाय और आत्मा ही ज्ञान में द्रश्य हो तब ही एकांत की प्राप्ति हुई ऐसा कहा जाता है।

अनाज पीसने की धंटी में जिन दाने को पिसने के लिए डालने में आते है उसमें से कोई एकाद दाना धंटी के मध्य में रहे हुए खीले में रह जाते है, जिससे वह दाना ऐसे ही पिसे बिना रह जाता है। उसीतरह जो जीव एक मात्र त्रिकाली ध्रुव आत्मतत्त्व का आश्रय लेता है, वह जीव संसारचक्र में पीसाता नहीं, दु:ख भोगता नहीं।

जैसे एक परमाणु अखंड है, वह खंडित नहीं हो सकता, ऐसे ही आत्मा भी अखंड है वह खंडित नहीं हो सकता। जैसे एक परमाणु इन्द्रिय ज्ञान द्धारा नही जाना जा सकता, उसीतरह आत्मा भी इन्द्रिय ज्ञान द्धारा नहीं जाना जा सकता। परमाणु पुदगल का शुद्ध स्वरुप है, ऐसे ही आत्मा भी शुद्ध है। फर्क इतना है कि परमाणु पर है, आत्मा स्व है। परमाणु क्षणिक शुद्ध है, जबकि आत्मा नित्य शुद्ध है।

नित्य का अनुभव

नित्य का अनुभव याने आत्मा के नित्यपने का अनुभव। यहां दीर्ध द्रष्टि से नित्य शब्द का अर्थ समजना चाहिए। चूंकि नित्यपना भी आत्मा का अंश है। द्रव्य तो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ऐसे स्वच-तुष्यमय होता है। फिर भी यहां काल की मुख्यता से आत्मा को नित्य कहा गया है। उसमें द्रव्य, क्षेत्र और भावरुप अंश भी गर्भित है ऐसा समजना चाहिए। अनंत गुणो का अभेद चैतन्य धनपिंड ज्ञायकभाव ही अनुभव का अनुभाव्य है। ज्ञायकभाव का अनुभव ही नित्य का अनुभव है। ज्ञान में जानने में आनेवाले जगत में स्थित अनंतानंत पदार्थो को ज्ञेय कहा जाता है तथा ज्ञेय को जाननेवाला होने से आत्मा को ज्ञायक कहते है। यहां कोई कहे कि ज्ञेय को जानने के कारण आत्मा को ज्ञायक कहा जाता हो तो आत्मा के ज्ञायकपने का कारण परद्रव्य मानना पडेगा। लेकिन यह बात समजनी चाहिए कि जगत में स्थित अनंतानंत पदार्थ ज्ञान में जानने में आते है इसी कारण से पदार्थो को ज्ञेय कहा जाता हैं। इसलिए ज्ञान के कारण ज्ञेय और ज्ञेय के कारण ज्ञायक ऐसा कहा जाता है। आत्मा को ज्ञेयो का जाननेवाला ज्ञायक कहते है उसका स्वाधीनपना छूट नहीं जाता है।

एक बात याद रखनी चाहिए कि द्रष्टि का विषय भगवान आत्मा ज्ञाता नहीं बल्कि ज्ञायक है। जब आत्मा को ज्ञाता कहते है तब वह एक ज्ञान गुण का अधिपति है ऐसा भाव ग्रहण होता है लेकिन जब आत्मा को ज्ञायक कहते है तब वह अनंतगुणों का अभेद अखंड एक अधिपति भगवान आत्मा सिद्ध होता है। आत्मा को ज्ञाता कहने से उसमें अन्य गुणों का समावेश नहीं होने से ज्ञाता के साथ द्रष्टा शब्द का प्रयोग भी किया जाता है। वहां द्रष्टा कहने से दर्शन गुण का अधिपतिपना सिद्ध होता है। कोई अपेक्षा से ज्ञाता-द्रष्टा शब्द गुणभेदरुप आत्मा का सूचक है, ज्ञायक आत्मा ऐसा शब्द गुणों से अभेद आत्मा का सूचक है।

नासाग्र द्रष्टि ही क्यों?

आंख को पूर्णरुप से बंद करने का कार्य भी विकल्प द्धारा होता है तथा आंख को संपूर्ण खुली रखने का कार्य भी विकल्प द्धारा होत है। निर्विकल्प दशा में आंख की ओर से द्रष्टि हट गई होने से ज्ञानी की

आंख आधी खुली और आधी बंद की दशा में रह जाती है। उसे नासाग्र द्रष्टि कहते है। नासाग्र द्रष्टि ऐसा नहीं समजना चाहिए कि नाक पर द्रष्टि एकाग्र करते ज्ञानी आत्मा का ध्यान करते होंगे। वास्तव में समस्त परपदार्थो से द्रष्टि हटती है, तभी आत्मा का निर्विकल्प ध्यान होता है।

अज्ञानी की पलक खुल-बंद होती है, इसलिए उस पलक को अस्थिर पलक कहते है। क्योंकि उसकी द्रष्टि अस्थिर पदार्थो पर स्थिर है, जबकि भगवान द्रष्टि नासाग्र होती है, त्रिकाली स्थिर आत्म तत्त्व पर स्थिर होती है। भगवान की द्रष्टि में एक मात्र आत्मा ही है जो स्थिर अनादि-अनंत नित्य है।

क्षणिक की ओर द्रष्टि करने से द्रष्टि में क्षणिकपना रहता है और नित्य की ओर द्रष्टि करने से द्रष्टि में नित्यपना प्रगट होता है। सार यह है कि स्थिर द्रव्य के लक्ष्य से ही स्थिर पर्याय प्रकट हो सकती है।

निर्विकल्प आत्मानुभूति के समय विचार होते है

विकल्पातीत दशा को आत्मानुभूति कहते है, विचारातीत दशा को नहीं। फिर भी अधिकांश मुमुक्षु ऐसा मानते है कि समस्त विचारों से रहित निर्विचार हो जाना ही आत्मानुभूति है, चूंकि यह मानना ठीक नहीं है। निर्विचार होने को निर्विकल्प दशा मान लेना अज्ञानी का भ्रम है।

केवली भगवान और जड पदार्थो को विचार नहीं होते, छद्मस्थ याने अल्पज्ञ। केवलज्ञान रहित समस्त जीवों को छद्मस्थ जीव कहते है। छद्मस्थ जीव को विचार सहित ही ज्ञान होता है। वहां ऐसा समजना कि छद्मस्थ जीव के भेदरुप विचार को विकल्प कहते है।

साररुप में ऐसा भी कह सकते है कि ज्ञेयों के कारण ज्ञान में भेद मालूम होना ही विकल्प है। छद्मस्थ जीव के अभेद आत्मतत्त्व के विचार को निर्विकल्प कहते है।

इस विषय को सिद्ध करते हुए पंडित टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक के सातवें अधिकार में कहा है कि,

निर्विचार होने का नाम निर्विकल्प नहीं है, क्योंकि छद्मस्थ का जानना विचार सहित होता है, उसका अभाव मानने पर ज्ञान का भी अभाव होता है, जो कि जडपना है, जो आत्मा को होता नहीं। इसलिए विचार तो रहते ही है।

नींद की विधि और आत्मानुभूति की विधि समान है

नींद और आत्मानुभूति के बीच लक्षण से अत्यंत विरोध होते हुए भी नींद और आत्मानुभूति की विधि समान है। जैसे कि मुझे सोना है, मुझे सोना है ऐसे सोने विकल्प रहते है तबतक नींद नहीं आती है। ऐसे ही मुझे आत्मानुभूति करनी है, मुझे आत्मानुभूति करनी है ऐसे आत्मानुभूति करने के विकल्प रहते हुए आत्मानुभूति नहीं होती।

नींद के समय सोना है, ऐसा विकल्प भी छूट जाता है, उसीतरह निर्विकल्प अनुभूति के समय मुझे निर्विकल्प आत्मानुभूति प्रकट करना ऐसा विकल्प भी छूट जाते है। नींद आने से पहले सोने विकल्पात्मक विचार आता है, सोना है ऐसा निर्णय होता है, उसकी तैयारी होने लगती है, बिस्तर पर जाकर लेटना होता

है, इतना कार्य तो बुद्धिपूर्वक होता है, उसीतरह आत्मानुभूति होने से पहले आत्मानुभूति करने के विचार आते है, आत्मानुभूति करनी है ऐसा निर्णय होता है, उसकी तैयारी होने लगती है, सामायिक की मुद्रा में बैठकर आत्मा के स्वरुप का चिंतवन होने लगता है, इतना कार्य तो बुद्धिपूर्वक होता है। सोते हुए व्यक्ति को यदि पूछा जाय कि कैसा आनंद आ रहा है तो कोई जवाब नहीं मिलेगा। लेकिन सोने के बाद जब वह उठे तब पूछने पर वह कहेगा कि आज मुझे बहूत आनंद आया, कितने ही दिन की मेरी थकान आज उतर गई। उसीतरह आत्मानुभूति के समय उसे पूछने में आये तो कोई जवाब नहीं मिलेगा, लेकिना निर्विकल्प आत्मानुभूति छूटने के बाद वह कह सकेगा कि भूतकाल में कभी नहीं प्रकटा हुआ अतीन्द्रिय सुख प्रकट हुआ है, अनादिकाल से मुझे लगी हुआ संसार परिभ्रमण की थकान दूर हो गई है।

यहां आत्मानुभूति की विधि को नींद की विधि के द्रष्टांत से समजाई गई है। द्रष्टांत को मात्र द्रष्टांत के रुप में समजकर उसका यथार्थ आशय ग्रहण करना। वहां ऐसा ग्रहण नहीं करना कि आत्मानुभूति को सोने की क्रिया के समान बताने से इतना पढ लेने के बाद कुछ भी न करके सो जाना। क्योंकि हे जीव! तू अनादिकाल से मोह की गहरी नींद में सो रहा है, चित्र-विचित्र स्वप्न देखकर न जाने कितने परपदार्थो में अपनेपने की कल्पना कर बैठा है। भाई, अब तेरे सोने का नहीं बल्कि जागने का समय आया है। जान-नेवाले को जाननेवाले की पर्याय में जानना तथा अनुभव करना ही वास्तविक जागृति है।

आत्मा क्यों दर्शन नहीं देता?

एक आत्मा में अटल अपनापन स्थापित करने के लिए परपदार्थो का अपनापन छोडना चाहिए, साथ ही मान कषाय का सूचक मैं कुछ हूं ऐसे अहंकार के भाव को भी छोडना चाहिए। अहंपने का भाव छोडे बिना आत्मा दर्शन नहीं देता।

एक आदमी भगवान के दर्शन करने के लिए अपने साथ भेंट लेकर जा रहा था, तभी द्वारपाल ने उसे रोका और कहा कि तुम भगवान के पास जा रहे हो, भगवान को तुम्हारी इस भेट की कोई जरुरत नहीं है। यदि इस भेंट को बाहर छोडकर जाओगे तो ही भगवान दर्शन देंगे। उसने द्वरपाल की बातो को मानकर भेट बाहर छोडकर जैसे ही आगे बढा कि द्वारपाल ने उसे फिर रोका, उसने द्वारपाल को पूछा कि अब क्या है? मेरे पास जो भी था वह सब तो मैंने बाहर ही छोड दिया है। बस अब तो सिर्फ मैं ही हूं। द्वारपाल ने कहा सिर्फ मैं ही हूं ऐसे भाव को भी यहां बाहर छोडना पडेगा, मैं रुपी अहंभाव को छोडकर अत्यंत सरलतापूर्वक भगवान के दर्शन करेंगे तो ही भगवान दर्शन देंगे।

तात्पर्य यह है कि मैंपना छोडे बिना देवदर्शन संभव नही है तो निज चैतन्य आत्मा के दर्शन कैसे संभव हो सकते है? देवदर्शन के फल में जीव का देवलोक में गमन होता है, जबकि चैतन्य के दर्शन के फल में जीव का चैतन्यलोक में गमन होता है। जैसे कोई पुरुष स्वयं ही अपनी आंखो पर पट्टी बांधकर कहता है कि मुझे कुछ भी दिखता नहीं है, ऐसे ही अज्ञानी जीव भी ज्ञानरुपी चक्षु पर मिथ्यात्व और अज्ञानरुपी पाप की पट्टी बांधकर कहता है कि मुझे शुद्धत्मा का दर्शन नहीं होता। अगर जीव पुरुषार्थ करे तो मिथ्यात्वरुपी पाप की पट्टी को छोडकर सम्यग्दर्शन प्रकट कर सकता है।

धरम में भी करम

अज्ञानी अपने अनंत दोषो पर द्रष्टि नहीं करके दूसरे जीवो के अनंत दोषो पर द्रष्टि करता है जिससे व्यर्थ में कषाय करके कर्मो का बंध करता है।

धर्म की चर्चा करने के लिए सप्ताह में एकबार एक धंटे के लिये बैठता है, वहां भी धर्म के नाम पर कर्म चर्चा करके तीव्र पाप कर्म का ही बंध करता है। इसप्रकार के जीव के जीवन में मन, वचन, काया संबंधी संयम जैसा बाह्य व्यवहार भी नहीं होता। यह देखकर ज्ञानी को अत्यंत खेद होता है।

अगर अपने चहेरे पर दाग हो तो दर्पण को साफ न करके अपने चहेरे को साफ करना चाहिए। दर्पण को साफ करने से चहेरे पर लगा हुआ दाग तो दूर होगा नहीं, लेकिन दर्पण स्वच्छ होने से चहेरे पर लगा हुआ दाग अधिक स्पष्ट दिखेगा।

अप्रशस्त राग की तरह प्रशस्तराग भी धर्म नहीं है। प्रशस्तराग में धर्म मानना ही मिथ्यात्वरुपी अधर्म है। अशुभभाव से बचने के लिए शुभभाव साधनरुप है परंतु शुभभाव आत्मा का साध्य नहीं है।

भगवान की भक्ति करने के लिए सजावट की कितनी आवश्यकता है? राग-द्वेष के विकारीभावो से छूटने के लिए भगवान की भक्ति का आश्रय लिया जाता है, वहां भी फिल्मी लय पर गीत गाकर रागादिभावो का ही पोषण होता है।

जिस जीव को वीतरागी भगवान की भक्ति करते हुए भी भगवान में वीतरागता नहीं दिखती उसे रागी देवी-देवताओं की भक्ति करते हुए वीतरागता कैसे दिखेगी? अज्ञानी को कभी-कभी ऐसा भ्रम हो जाता है कि मैं धर्म करता हूं। लेकिन वास्तव में ऐसा भी हो सकता है कि उस जीव का गृहित मिथ्यात्व भी न छुटा हो।

जब वह सामायिक करने बेठता है, तब चित्त तो यहां-वहां फिरता रहता है, क्रिया सामयिक की करता है। उसे तो इस बात का भी ज्ञान नहीं है कि शरीर की क्रिया का नाम सामायिक नहीं है, लेकिन आत्मा के परिणामों में समभाव प्रकट होने का नाम सामायिक है। वडिलो ने परंपरा से सामयिक करने की क्रिया सीखा दी थी, इसलिये वही कर रहे है, लेकिन कभी वडिलो को पूछा ही नहीं कि सामायिक क्यों करना चाहिए? शायक वडिलो को भी इसका पता न होगा!

जिनमंदिर में भगवान के दर्शन करते समय उपयोग चंचल होकर धुमते रहता है। कहीं-कहीं तो ऐसा भी लिखा होता है कि बाह जगत में किये हुए पाप धोने के लिए यहां जिनमंदिर में आये हो, लेकिन यहां आकर पाप मत करना। क्योंकि यदि यहां पाप करोगे, तो उसे धोने के लिए कहां जाओगे? चूंकि एक निज आत्मा के आश्रय से सब कर्म सहज ही धुल जाते है, लेकिन जो जीव परमात्मा के दर्शन नहीं कर सकता, वह जीव निजात्मा के दर्शन कैसे कर सकता है? इसलिये समस्त प्रकार का मायाचार छोडकर आत्महित के लक्ष्य से ही अंतर परिणति की शुद्धतापूर्वक धर्म करना चाहिए।

जीव अपने ही भाव को करता है और भोगता है

निश्चय द्रष्टि से अनादिकाल से आत्मा आजतक परद्रव्य का कर्ता तथा भोक्ता हुआ नही और हो सकता भी नही। फिर भी आत्मा ने अनादिकाल से

आजतक संसार परिभ्रमण किया। क्योंकि स्वयं परद्रव्य का कर्ता न होते हुए भी परद्रव्य का कर्ता मानकर मिथ्यात्व को ही पुष्ट करने के कारण पंच परावर्तनरुप संसार में परिभ्रमण ही किया। कर्ता-कर्म, भोक्ता-भोग्य संबंध दो भिन्न द्रव्य के बीच धटित नहीं होता लेकिन एक द्रव्य में ही धटित होता है। इससे यह समझना की प्रत्येक जीव अपने भावो का ही कर्ता है, परद्रव्य का नहीं।

जीव रागादिभावो का अभाव पुरुषार्थ के माध्यम से कर सकता है। कोई भी पदार्थ जीव को बलजबरी से राग या द्धेष उत्पन्न नहि कराता। किसी सुंदर लडकी को देखकर आत्मा में विकार उत्पन्न होते है ऐसा मानना योग्य नहीं है जीव में विकार करने की वृत्ति पडी हुई है इसलिए उसे अपनी कमजोरियों के कारण विकार पैदा होते है। उस सुंदर लडकी से भी ज्यादा सुंदर अपनी बहन है लेकिन वहां उसे विकार पैदा नहीं होता। इसका अर्थ यह हुआ कि कोई व्यक्ति, वस्तु और घटना हमें बलजबरीपूर्वक विकार पैदा नहीं कराती है। अत: ऐसा समझना चाहिए कि जीवका पुरुषार्थ बलबान है। अज्ञानदशा में आत्मा अपने रागादिभावो का कर्ता है।

कर्ता-कर्म की तरह भोक्ता-भोग्य संबंध भी एक ही द्रव्य में धटित होता है। प्रत्येक जीव स्वयं अपने भावो को ही भोगता है। प्रत्येक जीव स्वयं अपने भावो को ही भोगता है, परद्रव्य को नहीं। भोजन करते समय टेलिविजन देखने में उपयोग होता है तब भोजन का आनंद नहीं आता। क्योंकि टेलिविजन देखते समय जीव का भाव भोजन में जुडा हुआ नहीं है। जीव पदार्थ को भोगने से नहीं बल्कि पदार्थ को भोगने के भाव से सुख-दु:ख भोगता है।

यदि पति बिमार हो, रात को सो नहीं सकता हो और पत्नी डोक्टर को बुलाकर दवा वगेरे उपचार कराये फिर भी पति अच्छा न हो तो पत्नी और क्या कर सकती है? रात को 2 बजे पति ऐसा सोचे कि मैं इतना बिमार हूं लेकिन मेरी पत्नी तो सो गई है। वह मेरा कुछ करती ही नही, ऐसा सोचकर उसे पत्नी के प्रति द्धेष होगा, लेकिन अगर पत्नी भी पति के साथ जगे, तो पति को ऐसा लगेगा कि पत्नी मेरा बहूत ध्यान रखती है, ऐसा सोचकर उसे पत्नी के प्रति राग होगा। यदि पति ऐसा सोचे कि शरीर के विशेषज्ञ डाक्टर भी मुझे अच्छा नहीं कर सकते तो मेरी पत्नी रातभर जगनी ही चाहिए ऐसा विकल्प मैं क्यो करु? यदि पत्नी रातभर जगेगी तो सभंव है कि वह भी बीमार होगी और सुबह उसके लिए भी डाक्टर बुलाना पडेगा। यदि पति ऐसा सोचे कि पत्नी मेरा कुछ भी नहीं कर सकती तो पति को राग-द्धेष के अभाव में वीतरागता होगी। क्योंकि प्रत्येक द्रव्य को स्वतंत्र और स्वाधीन मानकर रागादि भावरुप परिणमित न होने से वीतरागता प्रकट होती है।

परिणाम का परिणाम

यदि कोई व्यक्ति तुम्हारे पैसे लेकर भाग जाता है तो ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि वह व्यक्ति मेरे पैसे लेकर भाग गया। वास्तविकता यह है कि अपने पुण्य भाग गये। सभी परिस्थितियों में किसी अन्य को दोषित न मानकर कर्मसिद्धांत को धटित करना चाहिए। किसी भी व्यक्ति पर विश्वास रखकर सुखी नहीं हो सकते।

विश्वास तुमने मुझे दिया, कभी न मैंने ग्रहण किया।
मैं जानता था कि उसी, विश्वास में विष वास है।।

किसी व्यक्ति पर विश्वास करने पर भी उसने विश्वासधात क्यों किया? ऐसा प्रश्न ज्ञानी को उत्पन्न होता ही नहीं। ज्ञानी कहते है कि अपेक्षा के फल में विश्वासधात नहीं होता लेकिन आत्मा में अपेक्षा भाव पैदा होना ही निजात्मा का विश्वासधात है। परपदार्थो के प्रति अपनेपने के मिथ्यात्वभाव को ही जहर समान खतरनाक कहा है।

पिताने पुत्रको पढाया, पुत्र के लिए अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया। परीक्षा के बाद पुत्र अपना परिणाम पिता के हाथ में देता है, परिणाम देखते ही पिता को दु:ख होता है। क्योंकि पुत्र सभी विषयो में फेइल हुआ था। पिताजी बहुत ही गुस्से से कहते है कि मैंने तेरे लिए कितना समर्पण किया, लेकिन तु फेइल हुआ? पुत्र कहता है कि पिताजी गुस्सा क्यों हो रहे हो? यह परिणाम आपका है। भूतकाल में आपने कोई ऐसे अशुभ परिणाम किये थे कि आपको मेरे जैसे पुत्र का योग हुआ है। यह बात सुनकर एक ही क्षण में पिताजी का क्रोध शांत हो गया। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक परिस्थिति में किसी अन्य को दोषित न मानकर अपने परिणाम (भाव) का परिणाम समझकर समभाव रखना यही ज्ञानी का कर्तव्य है।

व्यवहार और कर्मोदय

मुझे जगत से खुश रहना है और मुझे जगत को खुश रखना है, ऐसा सोचनेवाले जीवो के लिए धर्म नहीं है। आजतक कोई जीव न तो जगत को खुश रख सका है और न ही संसार से खुश रह सका है। जगत से खुश रहने में भोक्तृत्वबुद्धि और संसार को खुश रखने में कर्तृत्वबुद्धि की गंध आती है। जबतक ऐसी मिथ्याबुद्धि छूटती नहीं है, तबतक वीतराग धर्म प्रगट नहीं होता।

ज्ञानीयों का उपदेश तो यह है कि अपना व्यवहार करना और अन्य जीवो को उनके उदय पर छोड देना। अन्य जीवो को खुश करने की जिम्मेदारी हमारी नहीं है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता। जिसे सुखी ही होना हो उसे कोई दु:खी नही कर सकता, जिसे दु:खी ही होना हो उसे कोई सुखी नहीं कर सकता।

व्यवहार द्रष्टि से अपने बच्चों को पढाना-लिखाना यह प्रत्येक माता-पिता का व्यवहार है इसलिए उस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए, लेकिन बच्चे पढकर जीवन में सफल हो या निष्फल हो, उसके अहंकार का बोझ अपने सिर पर नही उठाना चाहिए। बच्चों की सफलता या निष्फलता को उनके कर्मोदय पर छोड देना चाहिए। इसीतरह पार्टी में जाने का आमंत्रण मिले और भूमिकानुसार जाना पडे तो अवश्य जाना चाहिए लेकिन पार्टी में जाकर जुड न जाये उसकी सावधानी रखनी चाहिए। पार्टी में जाकर व्यवहार पालना चाहिए, जिससे दूसरो को दु:ख न पहूंचे और पार्टी में न जुडकर निश्चय का पालन करना चाहिए, जिससे स्वयं को दु:ख न पहूंचे।

प्रत्येक जीव को सर्वप्रथम बिनजरुरी व्यवहारिक कार्यो से विरक्त होने का प्रयास करना चाहिए। कितनी भी आर्थिक मंदी होते हुए भी भोजन बंद नही कर देते। लेकिन बिनजरुरी खर्च कम कर देते है,

उसीतरह अध्यात्म मार्ग में भी अप्रयोजनभूत विषय में न जुडकर, मात्र अपनी भूमिकानुसार प्रयोजनभूत व्यवहार से भी विरक्त होने की भावना भानी चाहिए।

मुनिराज भी चार हाथ जमीन देखकर ईर्यासमितिपूर्वक चलते है, यह उनका व्यवहार है। फिर भी अगर कोई जीव उसके आयुकर्म के क्षय से मृत्यु को प्राप्त होता है। तो उस जीव का उदय समझकर विकल्पों की जाल में फंसते नहीं है।

स्वयं को पाप में गिरने से बचाने के हेतु से ज्ञानी को भी परजीवो को मरते बचाने का भाव सहज आता है। लेकिन ज्ञानी कभी भी स्वयं को परद्रव्य की क्रिया का कर्ता नहीं मानते है। यथार्थ ज्ञान और वैराग्य के बिना दीक्षा लेनेवाले जीव परजीवो की रक्षा मैंने की ऐसा मानकर स्वयं को विष्णु समान रक्षक मानते है। पहले तो वे अपने पुत्र-पत्नी-परिवार के ही रक्षक मानते थे, लेकिन अब तो छ काय के सभी जीवो का रक्षक स्वयं को मानते है। जब साधु प्रमाद बिना चार हाथ जमीन देखकर चलते है उस समय निज स्वभाव में लीन नहीं है, वही प्रमाद है। जब वे चींटी आदि जीवो का ध्यान रखते है तब उपयोग स्व से हटकर पर की ओर गया है, साधु को इस बात का अत्यंत खेद होता है कि चार हाथ जमीन देखकर चलने की बजह एक स्थान पर रहकर निज स्वभाव में लीन रहना यही निज आत्मा के प्रति भाइ गई उत्तम करुणा है।

कोई निश्चयाभासी ऐसा भी कहते हैं कि साधु आत्मसाधना के समय परजीवो को बचाने नहीं जाते, तो हम भी परजीवो को क्यों बचाये? कबूतर वगैरे पक्षीयों को दाना क्यों डाले? यह बात हमेशा याद रखनी चाहिए कि साधु परजीवो को बचाने जाते नहीं, साथ-साथ उन पर भी कोई उपसर्गादि आवे तो उसकी ओर भी द्रष्टि करते नहीं और समाधि में लीन रहते है। निज आत्मा के ध्यान में लीन होने से बाह्य पदार्थ पर द्रष्टि न जाने से ज्ञानी स्वयं को या परजीवों को बचाने नहीं जाते, जबकि निश्चयाभासी परजीवो को बचाने का मना करते है, लेकिन अपने को बचाने के लिए रात-दिन उपाय खोजते रहते है।

भावलिंगी वीतरागी साधु को शुद्धभाव से पहले भी शुभभाव और शुद्धभाव के बाद भी शुभभाव होता है। जबकि अज्ञानी को शुभभाव से पहले भी अशुभभाव और शुभभाव के बाद भी अशुभभाव होता है।

अज्ञानी को शुभभाव छोडकर अशुभभाव में प्रवर्तना योग्य नहीं है। सत्संग और शास्त्र स्वाध्याय ही अज्ञानी को शुभभाव में स्थिर रहने के लिए उत्तम साधन है।

छठवें-सातवें गुणस्थानवर्ती भावलिंगी साधु 24 घंटे में से 16 घंटे से भी अधिक समय शुद्धोपयोगरुप ध्यान में ही लीन रहते है, जिससे साधु के मात्र बाह्य आचार को ही आदर्श न मानकर आंतरिक शुद्धोपयोग ध्यान को अपना आदर्श मानना चाहिए।

तदुपरांत बाह्य व्यवहार से संबंधित एक बात यह भी है कि साधु के 28 मूलगुण में नग्नता भी एक मूलगुण है। वहां साधु को देखकर किसी स्त्री को विकारभाव उत्पन्न होते है तो साधु अपनी नग्नता छोडकर वस्त्र धारण नहीं कर लेते। साधु नग्नता को अपना व्यवहार मानते है, यदि किसी स्त्री को नग्नता के कारण विकार पैदा होता है तो नग्नता छोडते नहीं, साथ ही उस स्त्री के उदय को भी जानते है, जिससे साधु अपना समभाव स्वभाव नहीं छोडते।

जो अज्ञानी नग्न साधु को देखकर आश्चर्यचकित हो जाते है, वे वीतरागी साधु के मूल स्वरुप को यथार्थरुप में नहीं जानते है। हम भी एकांत स्नान करते समय नग्न होते है, वहां भी छोटे-छोटे तिर्यंच हमारी

नग्नता को देखते है, यह जानते हुए भी हम उस ध्यान नहीं देते। हम इस बात को द्रढरुप से मानते है कि वे तिर्यंच जीवो हमारी नग्नता को क्या जाने? इसीतरह साधु तो ऐसा ही जानते है कि यह अज्ञानी मनुष्य तो अज्ञानरुपी अंधकार से अंध है, उसे क्या पता कि नग्न साधुदशा किसे कहते है? इसलिए अज्ञानी मनुष्य देखेंगे तो कैसा लगेगा? क्या होगा? ऐसे भय या संकोच से अपरिग्रही वीतरागी मोक्षमार्ग पर चलना बंद कैसे कर दिया जाये?

साधु पूर्ण नग्न होने से उनके निमित्त से कोई अन्य स्त्री को विकार उत्पन्न होता है तो साधु को अन्य जीव के विकार में निमित्त होने का कारण कोई कर्मबंध नहीं होता है।

जिसे भाव होता है उसे ही कर्मबंध होता है, लेकिन जिसे पर भाव होता है उसे कर्मबंध नहीं होता है।

जैसे कोई व्यक्ति अपने मित्र को फोन करता है तो फोन का बिल फोन करने वाले को चुकाना पडता है, जिस पर फोन किया गया है उस मित्र को तो incoming free है, ऐसे ही अगर कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति को अपना शत्रु मानकर उसके प्रति द्वेषभाव करता है तो द्वेषभाव करनेवाली व्यक्ति को ही कर्म बंध होता है, सामनेवाली व्यक्ति को कोई कर्म बंध नहीं होता, जिस पर रागद्वेष किये जाते है उसे कोई कर्मबंध नहीं होता, भगवान की भक्ति करनेवाले भक्तों को शुभराग से पुण्यबंध होता है, लेकिन जिस पर शुभराग हुआ है, ऐसे जिनेन्द्र भगवान को कोई कर्मबंध नहीं होता है।

अन्य अपेक्षा से अगर कोई जवान लडकी कम कपडे पहिनकर घर से बाहर जा रही तो उसे देखकर किसी पुरुष को विकार उत्पन्न होता है, तो वहां उस लडकी को भी नियम से कर्मबंध होता है। मात्र इतना ही नही, उस लडकी को कम कपडे पहनने से पहले कम कपडे पहनने के भाव करने के समय से ही कर्मबंध हो जाता है, जब वह ऐसा भाव करती है कि आज मुझे इस कपडे में लोग देखेंगे और आकर्षित होंगे। कर्मबंध का मूल कारण अभिप्राय अर्थात इरादा है। ग्रहस्थ का व्यवहार है कि वह अपने शरीर को संपूर्ण ढककर ही रखे।

इस काल में ग्रहस्थ और द्रव्यलिंगी साधु दोनो प्रकार के जीव को आत्मज्ञान की प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ हो गई है। उसका मूल कारण यह है कि वे दोनों प्रकार के जीव अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार वर्तते नही है। साधु के व्यवहार को ग्रहस्थ ने आदर्श माना है और ग्रहस्थ के व्यवहार को साधु ने।

नग्नता साधु का व्यवहार है और शरीर को वस्त्र से संपूर्ण ढककर रखना यह ग्रहस्थ का व्यवहार है, लेकिन आज ऐसा युग आ गया है कि ग्रहस्थ भी फेशन के नाम पर नग्न होकर बाहर धुमने लग गया है, आज की स्थिति देखकर ऐसा लगता है कि वे दिन भी अब इतने दूर नहीं है कि ग्रहस्थ भी साधु की तरह संपूर्णरुप से निर्वस्त्र होकर रास्ते पर धुमते-फिरते होंगे। इतना ही नहीं, खडेखडे और हाथ में ही आहार लेना यह साधु का व्यवहार है तथा एक स्थान पर बैठकर और पात्र में ही आहार लेना यह ग्रहस्थ का व्यवहार है। लेकिन आज के आधुनिक युग में ग्रहस्थों ने भी खडे-खडे ही भोजन करना शुरु कर दिया। सामुहिक बुफे भोजन शुरु हुए। इसप्रकार ग्रहस्थ अपनी भूमिकानुसार व्यवहार पालकर साधु की भूमिकानुरुप व्यवहार पालने लगे जिससे आत्मज्ञान की प्राप्ति से वंचित रह गये।

दुसरी ओर द्रव्यलिंगी साधु भी ग्रहस्थ जीवन में पालने योग्य व्यवहार में ही अटक गये। जिनमंदिर बनाने, जीवदया के लिए धन इकट्ठा करना आदि कार्य ग्रहस्थो को करने चाहिए। लेकिन आज ऐसा देखने में आता है कि ग्रहस्थ की अपेक्षा द्रव्यलिंगी साधु जिनमंदिर बनाते है और धन इकट्ठा करने में ज्यादा

उत्सादित नजर आते है, समाज से जुडकर रहने की आत्मा की वृत्ति के कारण बाह्य में मुनिपना धारण करने के बावजुद भी आत्मज्ञान प्राप्त नहीं कर पाते।

उलटे लोगो के साथ उलटा व्यवहार करना चाहिए और सीधे लोगो के साथ सीधा व्यवहार करना चाहिए ऐसा माननेवाले जगत के लिए अपना अमूल्य जीवन व्यर्थ में बर्बाद कर रहे है। उलटापना जगत में नहीं लेकिन अज्ञानी की द्रष्टि में है। इसलिए यदि अपनी द्रष्टि बदलकर प्रत्येक जीव को भगवान आत्मा समजा जाये तो प्रत्येक जीव के साथ सीधा व्यवहार सहज ही होगा। भूतकाल के द्वेषभाव को भूलकर और भविष्यकाल की सभी अपेक्षायें छोडकर प्रत्येक जीव को भगवान आत्मा के रुप में देखना चाहिए।

भगवान महावीर भी दस भव पूर्व सिंह की पर्याय में मांस खाते थे, लेकिन आज भगवान महावीर के दर्शन करते समय यदि उनके ऐसे हीन भूतकाल को याद करके उस रुप में देखा जाये तो उनके प्रति महिमा भाव नहीं आयेगा। वर्तमान पर्याय का भूतकाल की पर्याय में प्रागभाव है। उसीप्रकार किसी मांसाहारी व्यक्ति को भी उसके प्रति द्वेष नहीं करना चाहिए। वहां ऐसा सोचना चाहिए कि यह उसकी क्षणिक अवस्था है, भविष्य में वह शाकाहारी भी हो सकता है या वह मेरे से पहले सिद्धदशा को प्राप्त कर ले और मेरा संसार परिभ्रमण चालू ही रहे। इसलिए प्रत्येक आत्मा को भगवान आत्मा के रुप में जानना और मानना चाहिए।

इस कलियुग में आचार्यदेव ने ताड के पान पर शास्त्र लिखकर भगवान आत्मा की पहिचान बताकर हम पर बहुत उपकार किया है।

उन्हें लिखते लिखते हाथ में से खुन भी निकल गया, लेकिन आज हमारे पास उन शास्त्रों को पढने या उसके बारे में सोचने भी का समय नहीं है। यह हमारे लिए अत्यंत दु:ख की बात है। अब तो कागज की भी खोज हो गई है जिससे किताबें कागज पर लिखाने लगी है, फिर भी प्राचीन पान शब्द अभी कायम है। जिससे कागज पर लिखे हुए पुस्तक के पृष्ठ को पाना क्रमांक कहा जाता है। कोई तो यहां तक भी कहते है कि उनके ग्रंथो को किसी की नजर न जाये इसलिए प्रत्येक शब्द को कांटे के माध्यम से लिखा अर्थात टच वुड करके लिखा। बस यही कारण है कि आज दो हजार वर्ष बाद उनके द्वारा रचित ग्रंथ आज भी हमारे पास उपलब्ध है तथा उनके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान पंचमकाल के अंत तक भव्य जीवो को उपकारी होगा।

आचार्यदेवो ने हमारी हीन वृत्ति और प्रवृत्ति देखकर हम पर द्वेष नहीं किया लेकिन करुणाभाव सहित कांटे के माध्यम से ताड के पान पर शास्त्रों की रचना की। इसलिए हमें भी प्रत्येक जीव पर करुणा करनी चाहिए। यदि छठवें गुणस्थानवर्ती साधु पहले गुणस्थानवर्ती जीव करुणा करते है, तो पहले गुणस्थानवर्ती जीव पहले गुणस्थानवर्ती जीव पर करुणा क्यों नहीं करे?

करुणाभाव के बिना धर्म समजने में नहीं आता और करुणा के अभाव के बिना धर्म प्रकट नहीं होता।

यदि भगवान करुणा सहित उपदेश दे तो वे भगवान नहीं कहलाते तथा गुरु करुणा बिना उपदेश दे तो वे गुरु नहीं कहलाते। ज्ञानी को प्रत्येक जीव के प्रति वात्सल्य भाव होता है तथा होना भी चाहिए। संयोगाधीन द्रष्टि तथा बाह्य अपेक्षावृत्ति छोडकर प्रत्येक जीव को पहिचानना चाहिए। समस्त जीवो को द्रव्य द्रष्टि से भगवान आत्मा के रुप में देखना चाहिए।

राग में धर्म मानना याने मिथ्यात्व

ज्ञानियो ने राग में धर्म न मानने पर विशेष जोर दिया है। द्वेषभाव को तो कोई धर्म मानते नहीं, राग में भी शुभराग कहा है अशुभराग नहीं क्योंकि अशुभराग को भी कोई धर्म नही मानते, शुभराग को धर्म माननेवाले बहुत है। रसगुल्ले के अशुभराग को कोई धर्म नहीं मानता लेकिन वीतरागी भगवान के शुभराग को अज्ञानी धर्म मान रहा है इसलिए कहा है कि अशुभराग की तरह शुभराग भी धर्म नहीं है। यह बात सुनकर निश्चयाभासी मत हो जाना। आजकल लोग जिनमंदिर बनाने में तो धन खर्चते नही और वचन में ऐसा ही कहते है कि शुभराग धर्म नहीं है।

तीर्थकर प्रकृति के बंध के योग्य शुभराग आत्माज्ञानी को ही उत्पन्न होता है तथा उस राग का फल केवलज्ञान होने के बाद ही उदय में आता है, वह शुभराग भी बंधन का ही कारण है, मुक्ति का नहीं।

जीव और पुदगल के बीच मारामारी

विश्व में जाति अपेक्षा से छह द्रव्य रहते है फिर भी जीव और पुदगल द्रव्य को विशेष महत्व दिया गया है। क्योंकि जीव ही पुदगल में अटकता है। जीव स्वयं अटकता है इसलिए जीव को विशेषरुप से समझने के लिए कहा गया है तथा पुदगल में अटकता है इसलिए पुदगल को भी विशेषरुप में समझने के लिए कहा गया है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल, इन चारो द्रव्यो को रागादिभाव नहीं होते है तथा इन चार द्रव्यो के लक्ष्य से भी रागादिभाव नहीं होते। इसलिए शास्त्रों में उनका विशेष वर्णन नहीं किया है।

जीव ही ऐसा भाव करता है कि पुदगल पदार्थ मेरे है या पुदगल वस्तुएं मेरी है इसलिए सचमुच मारामारी करनेवाला जीव ही है, इसलिए जीव को ही तत्त्व का उपदेश दिया गया है, पुदगल को नहीं।

जब अपना और पडौसी का ऐसे दो लडके लडाई कर रहे हो तब हम अपने लडके को लडाई करने का मना करते है, अपने लडके को ही कहते है कि तु वापस आ जा। वहां अपना लडका कहता है कि आप मुझे ही क्यों कहते हो? सामनेवाले लडके को क्यो कुछ नही कहते? तब उसे कहते है कि भाई, तुम समझदार हो इसलिए तुम्हें ही समझा रहे है। उसीतरह जीव और पुदगल की मारामारी में जीव को ही तत्त्व का उपदेश दिया जाता है, जीव को ही वापिस लौटने का उपदेश दिया जाता है। ज्ञानी कहते है कि हे जीव, हम तुम्हें ही उपदेश देते है, पुदगल को नहीं क्योंकि तुम समझदार हो। समझने की शक्ति तुम में ही है, पुदगल में नहीं।

खास विशेषता तो यह है कि अनादिकाल से परस्पर भिन्न लक्षणवाले छह द्रव्य के समुहरुप यह विश्व परस्पर बाधा रहित टिककर रहा है, अनंतकाल टिककर रहेगा। जीव की भूल के कारण विश्व की व्यवस्था पर कोई असर नहीं होती। जीव और पुदगल की मारामारी के बावजुद भी अनादिकाल से एक भी द्रव्य को उसकी कोई असर नहीं हुई है।

एक तरफा प्रेम ज्यादा टिकता है याने क्या?

एक तरफा प्रेम को one side love कहते है। लोकजगत में ऐसा कहते है कि एक तरफा प्रेम लंबे समय नहीं रहता है, परंतु सर्वथा एकांत से यह मानना योग्य नहीं है।

अनादिकाल से आजतक आत्मा ने अनंत भव में अनंतानंत पुदगल को प्रेम किया लेकिन पुदगल ने तो आत्मा को एक क्षण के लिए भी प्रेम नहीं किया। अनंतकाल बीत जाने पर भी आत्मा का पुदगल के प्रति एक तरफा प्रेम अबतक कायम टिका हुआ है। अब ऐसा एक तरफा प्रेम छोड देना ही योग्य है क्योंकि यह प्रेम अकेले आत्मा को ही चारगति में परिभ्रमण कराता है, जीव के इस प्रेम के फल में उसे अनंत दु:ख भोगना पडता है। मेरे मित्र मुझे हमेंशा कहते है कि कभी तो मनुष्य को अपने आप को भी कहना चाहिए कि I love you.

प्रत्येक अज्ञानी परदेशी है

प्रत्येक अज्ञानी अपने देश में रहते हुए भी देश में नही बल्कि परदेश में ही रहता है। राग और द्वेष के विकारी भाव मेरा देश नहीं है। ज्ञानी स्वभाव को स्वदेश और परभाव को परदेश कहते है, जिससे ज्ञानी की द्रष्टि में हर एक अज्ञानी परदेश में ही परिभ्रमण कर रहा है।

अनादिकाल से आजतक निजधर में प्रवेश किया ही नहीं है। सच्चा सुख निजधर में ही है। मेहमान बनकर पराये धर में हमेशा नहीं रह सकते।

जो जीव अज्ञानी है उसे ही परदेश की महिमा आती है। स्वयं को शरीर माननेवाले जीवो को शरीर के सुख के लिए परदेश अच्छा लगता है, ज्ञानी कहते है कि हर एक अज्ञानी को रागादिभाव में उपोदयबुद्धि होने से हर एक अज्ञानी परदेशी है।

मन को मनाना नहीं, मनको जीत ना होता है।

जो जीव मजे में है, वे जीव मजे में नहीं है। क्योंकि मजा लेने मन का निमित्तपना होता है। जबतक मन का निमित्तपना होता है। तबतक शुभाशुभभाव भी होते है। शुद्धभाव में मन का निमित्तपना नहीं होता है।

मन आत्मा का शत्रु है, उसे मनाना नहीं होता। लेकिन जीतना पडता है। समयसार में इन्द्रियो को जीते उसे जितेन्द्रिय कहा है, वहां इन्द्रिय विजय में मन विजय भी गर्भित है। पांच इन्द्रिय और मन आत्मा को ज्ञान में निमित्त होने के साथ-साथ भोग में भी निमित्त बनते है, इसलिए मन को जीतना है।

भोजन की इच्छा होते ही भोजन कर लेने से भोजन की इच्छा का नाश नही हो जाता। भोजन कर लेने से इच्छा दब जाती है। इच्छा का अभाव करने के लिए प्रत्येक जीव को सर्वप्रथम जगत के अनेकांतमय स्वरुप को सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के माध्यम से समझना चाहिए।

अज्ञानी पहले भोगे हुए भोगो को याद करके फिरसे भोग भोगने की इच्छा करता है। लेकिन भोग के अंत में सुख नहीं मिला था, यह विचार नहीं करता है। उसे पहले खाया हुआ रसगुल्ला और उससे मिला हुआ कल्पित क्षणिक सुख तो याद आता है लेकिन दसवें रसगुल्ले को खाते समय सुख नहीं मिला था उस बात को याद नहीं करता है। सत्य यह है कि जिस जीव को कर्मबंध के फल में संसार परिभ्रमण करना बाकी रहा है, उस जीव की ऐसी ही होनहार होती है।

निश्चयद्रष्टि से पुदगल कर्म जड है इसलिए पुदगल कर्म का फल भी पुदगल कर्म में ही होता है, चेतन

में नहीं। इसलिए कर्म के फल में मिलनेवाले संयोग और संयोगीभाव भी जड ही कहे जाते है। अनुमान और आगम प्रमाण से जड पुदगल कर्म की सिद्धि होती है।

मन से कर्मबंध नही होता है

यदि मन से कर्मबंध होता हो तो एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के सभी जीवो को कर्मबंध रहित मानने का प्रसंग आयेगा। द्रव्यमन या भावमन कर्मबंध का कारण नहीं है। द्रव्यमन मनोवर्गणारुप पुदगल का परिणमन है, साक्षात पुदगल है इसलिए वह कर्मबंध का कारण नहीं हो सकता। इसीतरह द्रव्यमन के निमित्त से परिणमित होनेवाले क्षयोपशमज्ञान को भावमन कहते है। भावमन का दूसरा नाम क्षयोपशम ज्ञान है। छद्मस्थ जीव का ज्ञान स्वभाव जिस पर्याय में व्यक्त होता है, उस ज्ञान का नाम भावमन है इसलिए वह भी कर्मबंध का कारण नहीं हो सकता।

कर्मबंध का मूल कारण मोह-राग-द्धेष के विकारी परिणाम है। वे विकारी परिणाम द्रव्यमन या भावमन नहीं है। इसलिये द्रव्यमन या भावमन कर्मबंध के कारण नहीं बनते। कोई अज्ञानीजीव मन को कर्मबंध का कर्ता न माने इसलिये श्रीमद् राजचंद्रजी ने आत्मसिद्धि शास्त्र में वर्णित छह पद में से तीसरे पद में आत्मा को कर्म का कर्ता तथा चोथे पद में आत्मा को कर्म का भोक्ता सिद्ध किया है। मन कर्म का कर्ता तथा भोक्ता नहीं है, इसलिये उसे स्थिर करने के प्रयोग से आत्मा का संसार परिभ्रमण रुक नही जाता। चंचलपना तो मन का स्वभाव है, उसे स्थिर करने का प्रयास तो उसके स्वभाव के विपरित चलने जैसा है। कांच का ग्लास छूट न जाये इसलिए उसे बलपूर्वक दबाकर पकड रखने से वह छूटेगा तो नहीं लेकिन फूट जरुर जायेगा। उसीतरह मन को स्थिर करने के प्रयास से आत्मानुभूति अपूर्व कार्य सिद्ध नहीं हो सकता।

श्वास पर ध्यान केन्द्रित करने से आत्मानुभूति नहीं हो सकती है। श्वास तो हवा है, वायुकायिक जीव का ध्यान करने से सम्यग्दर्शन कैसे प्रगट हो सकता है? अशरीरी सिद्ध परमात्मा का ध्यान भी शुभरागरुप विकल्प है तो वायुकायिक के ध्यान से निर्विकल्प दशा कैसे प्रगट हो सकती है? निर्विकल्पदशा का कारण एकमात्र ज्ञायकभाव है। धर्म के नाम पर कर्म का बंधन न हो, उसका हर पल ध्यान रखना चाहिए। क्षणिक का बोध करने की चर्चा तो जगह जगह होती है लेकिन नित्य के अनुभवपूर्वक क्षणिक के बोध का वर्णन जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्य कहीं पर भी नहीं है।

यदि मन भाव करता हो तो मन का संसार परिभ्रमण होना चाहिए, आत्मा का नहीं। मन दु:ख भोगना चाहिए, आत्मा नहीं। उपदेश भी मन को ही देना चाहिए, आत्मा को नहीं। मोक्ष भी मन का ही होना चाहिए, आत्मा का नहीं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आत्मा ही कर्म का कर्ता एवं भोक्ता है, मन कुछ करता या भोगता नहीं है। इसलिए बेचारे मन को बिना कारण बदनाम करना योग्य नहीं है।

धर्म का मूल सम्यग्दर्शन

सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है और वीतराग चारित्र वास्तविक धर्म है। जैसे मूल के बिना वृक्ष नहीं टिक सकता उसीतरह सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक नहीं कहे जा सकते।

पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी कहते थे कि सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान एवं चारित्र एक के बिना शून्य

समान है। निर्जन रण में पुकार करने करने जैसा है। जैसे वृक्ष के मूल को नहीं देख सकते है लेकिन वृक्ष दिखता है, उसीतरह आत्मा में सम्यग्दर्शन होते हुए भी उसे देखा नहीं जा सकता, लेकिन जीव के चारित्र को बाहर से देख सकते है।

कोई ऐसा कहे कि सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र एक बिना शून्य समान है, तो ज्ञान प्राप्त क्यों करना? चारित्र अंगीकार क्यों करना? ज्ञानी कहते हे कि जिसने अंक बिना शून्य रखा है उसे तो मात्र अंक ही रखने की जरुरत है लेकिन जिसने अंक भी रखा नहीं और ना ही शून्य, उसे तो अंक और शून्य दोनों ही रखने की जरुरत है। इसलिए सम्यग्दर्शन के बिना होनेवाले ज्ञान और चारित्र की निंदा करके स्वयं को महान बताने से कषाय के फल में कर्मबंध करके अधोगती ही होगी।

श्रद्धा मापने का मीटर

अपनापन करना आत्मा का स्वभाव है। परपदार्थ में अपनापन करना मिथ्यादर्शन है और निजात्मा में अपनापन करना सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन एवं मिथ्यादर्शन इन दोनो पर्यायो का त्रिकाली उपादान कारण श्रद्धा गुण है। जीव की श्रद्धा की पर्याय किस विषय में अपनापन कर रही है, उसे मापकर पर से विरक्त होने का पुरुषार्थ करना चाहिए। ज्ञानी कहते है कि ज्ञान की अदालत में श्रद्धा को खडी करके पूछो कि वह किसकी ओर है।

असंतोष की भावना जितनी बने रहे उतना अपनापन ज्यादा समझना चाहिए। लेकिन जहा संतोष हो जाता है वहां अपनापन समाप्त हो जाता है। ताजमहल के दर्शन करते वक्त सुख लेने की मर्यादा होती है। लेकिन अपने धर के दर्शन बार-बार करने पर भी तृप्ति नहीं होती है। जीव को जहां अपनापन है वहां संतोष नहीं होता है।

जब कोई प्रेमी उसकी प्रेमिका को मिलने जाता है और थोडे समय बाद प्रेमिका अपने धर वापिस लौटने की बात करती है तब प्रेमी उसे और थोडी देर बेठने का आग्रह करता है। ज्यादा देर तक साथ बैठने पर भी प्रेमी को संतोष नहीं होता है, इससे यह निश्चय होता है कि प्रेमी को प्रेमिका पर अटल अपनापन है।

जहां अपनापन होता है, वहां सर्वस्व समर्पण का भाव होता है। अगर ताजमहल की मरम्मत के लिए पैसे देना पडे तो पैसे देने में हिचकिचाहट होती है। लेकिन अपने धर की मरम्मत के लिए सौ रुपये की जगह पांच सौ रुपये खर्च करेने में भी पीछे नहीं हटते। क्योंकि धर को अपना माना है, ताजमहल को नहीं। आत्मा के पास भी एक वस्तु है जो आत्मा स्वयं को समर्पित कर सकता है। वह है अपना समय याने अपनी पर्याय।

अपनी पर्याय को आत्मद्रव्य में केन्द्रित करना ही आत्मा का आत्मा को सर्वस्व समर्पण है। इसप्रकार के समर्पण के लिए निर्धन और धनवान, गृहस्थ और साधु के भेद का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

जबतक आत्मा में एकत्व स्थापित नहीं हो जाता है तबतक आत्मा के गुणगान गाने मात्र से आत्मानुभूति नहीं हो जाती।

अगर नौकर को ऐसा कहे कि आज रात को तुम यही सो जाना। लेकिन वह कहेगा नही, मैं यहां नहीं सो सकता। मैं तो मेरी झोंपडी में सोने जाउंगा। वहां मक्खी-मच्छर काटते है, फिर भी वह नोकर आलिशान धर में न सोकर अपनी झोंपडी में सोने का ही पसंद करेगा। वह कहेगा कि में जागता हूं नोकर बनकर लेकिन नोकर बनकर सोना पसंद नही करुंगा। यदि आलिशान धर में सोना पडा तो ऐसा मानुंगा कि एक नोकर सो रहा है लेकिन झोंपडी मे सोउंगा तो ऐसा मानकर सो जाउंगा कि एक मालिक सो रहा है। ऐसे ही जहां एकत्व स्थापित होता है, वहां जीव को सुख का अनुभव होता है। उसीप्रकार आत्मा में एकत्व स्थापित होता है तो आत्मा में अतीन्द्रिय आनंद प्रगट होता है।

एक कवि ने कहा है कि प्रेम में सब कुछ सहन हो सकता है लेकिन दूरी सहन नहीं हो सकती। राम और लक्ष्मण जब वन में थे, तब वहां भी खुश थे। लेकिन उन्हे दु;ख इस बात का था कि हमारी माताओं को यह पता नही है कि हम खुश है। अगर आत्मा के प्रति प्रेम होता है तो आत्मा की पर्याय आत्मा में सहज रुप से जुडती है, वह एक समय के लिए भी आत्मा से विमुख नहीं रह सकती।

जैसे कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति के घर में रहने से वह व्यक्ति उसके घर का मालिक नहीं हो जाता। उसीतरह इस देहरुपी परघर में रहने से मैं इस देह का मालिक नहीं हो जाता। मैं मुम्बई में रहता हूं तो क्या मैं मुम्बई का मलिक हो गया? तीन लोग में रहने के कारण तीन लोक का मलिक हो गया? विश्व में रहने के कारण विश्व का मालिक हो गया? नहीं, कदापि नही।

मेरा अस्तित्व मात्र मेरे असंख्यात प्रदेश तक ही सीमित है। बस इसके अलावा मेरा मालिकपना अन्य कहीं भी नहीं है, इसलीए इन सभी मिथ्यात्वभाव से छूटने के लिए अपना यह मनुष्यभव निजात्मा के लिए ही समर्पित करना चाहिए।

हे आत्मा! बस अब तु वापिस लौट जा, बस अपने आप को ऐसा कहो कि अब मुझे संसार परिभ्रमण नहीं करना है, मुझे दूसरा अवतार नहीं लेना है, अब मुझे चार गति के परिभ्रमण के दु:ख नहीं भोगने है। मेरे अनंत वैभव को ही मुझे भोगना है। यही मेरी श्रद्धा का श्रदेय, ज्ञान का ज्ञेय और ध्यान का ध्येय बने, ऐसी मैं प्रतिज्ञा करता हूं।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में पहले क्या प्रगट होता है?

सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति में समय भेद नहीं होता है। जब श्रद्धा गुण की पर्याय शुद्धरुप में परिणमित होती है उसीसमय ज्ञान और चारित्र गुण की पर्याय भी सम्यक नाम पाती है। इसलिये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति एक ही समय में होती है। उन तीनों को एक शब्द में रत्नत्रय अथवा मोक्षमार्ग भी कहते हैं।

ज्ञान मात्र जानता है। ज्ञान गुण की पर्याय जिस ज्ञेय को जानती है, श्रद्धा गुण की पर्याय उस ज्ञेय में एकत्व करती है और चारित्र गुण की पर्याय उस ज्ञेय में राग-द्वेष करती है। इससे समझ सकते है कि श्रद्धा और चारित्र गुण की पर्याय में ही अशुद्ध परिणमन होता है।

ज्ञान तो प्रतिसमय शुद्धरुप में ही परिणमित हो रहा है, इसलिए गुणस्थान की परिभाषा में भी ज्ञानगुण की पर्याय का उल्लेख भी नहीं किया है। वहां कहा है

कि मोह और योग के निमित्त से होनेवाली श्रद्धा और चारित्र गुण की तारतम्यरुप अवस्था को गुणस्थान कहते है।

सम्यग्द्रष्टी सुखी या दु:खी?

यदि सम्यग्द्रष्टी दु:खी है तो पहले गुणस्थान से चौथे गुणस्थान तक पहूंचने का लाभ क्या? यदि सम्यग्द्रष्टी सुखी है तो चौथे गुणस्थान से उपर के गुणस्थान में जाने की आवश्यकता ही क्या?

चौथे गुणस्थान सम्यकद्रष्टि को मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषाय के अभावपूर्वक स्वरुपाचरण चारित्र प्रगट होने के कारण सुखी है और तीन कषाय चोकडी के उदय से होनेवाले राग-द्धेष के कारण दु:खी है। सम्यग्द्रष्टी को श्रद्धा की अपेक्षा से सुखी और चारित्र की अपेक्षा से दु:खी कहा जाता है। चारित्र की अपेक्षा से दु:खी होते हुए भी सम्यग्द्रष्टी दु:ख को आत्मा का स्वरुप नहीं मानते है।

ज्ञानमार्ग या भक्तिमार्ग

कुछ लोग ऐसा मानते है कि मोक्ष प्राप्ति के दो मार्ग है 1. ज्ञानमार्ग 2. भक्तिमार्ग। वे ज्ञानमार्ग को कठिन और भक्तिमार्ग को सरल मानते है। कोई ऐसा मानते है कि बचपन तो खेलने-कुदने के लिए ही होता है इसलिए बाल्यावस्था में मोक्ष प्राप्ति का उपाय खोजने का कोई प्रयोजन नहीं रहता। वे आगे कहते है कि युवावस्था और वृद्दावस्था में मोक्षप्राप्ति के अलग-अलग मार्ग है। युवावस्था में स्मरणशक्ति अधिक होने के कारण ज्ञानमार्ग ही अधिक श्रेयस्कर है एवं वृद्धावस्था में शारीरिक शिथिलता के कारण भक्तिमार्ग ही अधिक कार्यकारी है।

ज्ञानमार्ग में ज्ञानावरणी कर्म के क्षयोपशम की प्रधानता है जबकि भक्तिमार्ग में चारित्र मोहनीय कर्म के उदय की प्रधानता है।

ज्ञान आत्मा का गुण है लेकिन भक्ति आत्मा का गुण नहीं है। यह बात परम सत्य है कि मान कषाय के कारणरुप आठ मद में ज्ञानमद का नाम है परंतु भक्तिमद का नाम नहीं है।

अन्यमत में भी माया को आत्मा की अहितकर्ता सिद्ध करते हुए कहा है कि माया ही जीव का अमूल्य समय लूंट रही है। जिस पुरुष के साथ भक्तिरुपी स्त्री होगी, उस पुरुष पर मायारुपी स्त्री निगाह भी नहीं डालेगी। अन्यमत में भी भक्ति के द्धारा ही माया का नाश कहा है।

ज्ञानमार्ग में भगवान वक्ता होते है और भक्त श्रोता। भक्तिमार्ग में भक्त वक्ता और भगवान श्रोता होता है। जरा सोचिए, भगवान सुनना श्रेष्ठ है या भगवान को सुनाना? भगवान तो केवली है इसलिए हम जो भगवान सुनाना चाहते है, वह सब भगवान जानते है, लेकिन भगवान ने कहा है, वह सब हम नहीं जानते है। वास्तव में ज्ञानमार्ग को अपनाना ही भगवान की यथार्थ भक्ति है।

केवलज्ञान की महिमा

तत्त्व का अभ्यास करके कोई अज्ञानी ऐसा सोचता है कि मैं सर्वज्ञ स्वभावी हू लेकिन वर्तमान पर्याय में प्रकट ज्ञान बहूत अल्प है। उसे इस बात का खेद होता है कि मुझे बहूत शास्त्र याद नहीं रहते है। वह ऐसा नहीं सोचता कि वर्तमान में जो अल्प ज्ञान है उसका सदुपयोग किया जाय तो केवलज्ञान प्रकट हो सकता है। अज्ञानी मात्र इतना विचार करता है कि एक सफरजन में कितने बीज है? परंतु वह कभी ऐसा नहीं सोचता कि एक बीज में कितने सफरजन छुपे हुए है? प्रत्येक बीज में सफरजन का वृक्ष बनकर अनेक सफरजन पकाने की शक्ति है। उसीप्रकार अल्प क्षयोपशमज्ञान का सदुपयोग करने से केवलज्ञान प्रकट हो सकता है। श्रुतज्ञान को दूज और केवलज्ञान को पूनम की उपमा दी गई है। एक बार दूज होने पर पूनम होगी होगी और अवश्य होगी। उसीप्रकार श्रुतज्ञान का बीज बोने पर केवलज्ञानरुपी वृक्ष उगता है और मोक्षफल की प्राप्ति भी अवश्य होती है।

मैं सर्वज्ञ स्वभावी हूं। लेकिन वर्तमान पर्याय में अल्पज्ञ हूं, द्रव्यद्रष्टि से परमात्मा हूं, पर्यायद्रष्टि से पामर हूं। ऐसा सोच-सोचकर पुरुषार्थ नहीं छोडना चाहिए। वर्तमान अल्पज्ञान का सदुपयोग करके केवलज्ञान प्रकट हो सकता है। जैसे कोई करोडपति अपनी जेब में दस रुपये लेकर बाजार में निकले और दस रुपये के कारण स्वयं को दस रुपये का ही मालिक मान ले और अपनी समस्त संपति को ध्यान में न ले तो वह उसकी मूर्खता है। उसीप्रकार अज्ञानी के पास स्वभाव अपेक्षा से केवलज्ञान की शक्ति का भंडार होते हुए भी वर्तमान में स्वयं को प्रकट अल्प क्षयोपशज्ञानवाला ही मानता है, इसे अज्ञानी की मूर्खता ही समझनी चाहिए।

एक केवलज्ञान पर्याय में अनंत केवलज्ञान पर्याय तथा उसके ज्ञेयों सहित लोकालोक जानने में आता है। ऐसे अनंत सामर्थ्यवान केवलज्ञान की पर्याय जिस द्रव्य में से उत्पन्न तथा व्यय होती है, फिर भी द्रव्य जैसा है वैसा ही रहता है, वह शुद्ध आत्मद्रव्य मैं स्वयं ही हूं।

सर्वज्ञ की सिद्धि

जिस जीव को सर्वज्ञ की श्रद्धा नहीं होती है, उस जीव को जीवादी सात तत्व की श्रद्धा भी नहीं हो सकती, स्व-पर का भेद ज्ञान नहीं हो सकता, सम्यग्दर्शन प्रकट नहीं हो सकता। एक अज्ञानी ने सर्वज्ञ की सत्ता नहीं होती है, उस संबंध में दलील करते हुए कहा कि जगत में सर्वज्ञ की सत्ता नहीं होती। मैंने उसे पूछा कि तुमने सर्वज्ञ को कहां खोजा? तो वह बोला कि, सारे हिन्दुस्तान में ही नहीं बल्कि सारी दुनिया घुमकर देखा लेकिन मुझे कहीं भी सर्वज्ञ नहीं मिले इसलिये मैं मानता हूं कि सर्वज्ञ की सत्ता नहीं है। मैंने उसे पूछा कि क्या तुमने महाविदेहक्षेत्र में जाकर देखा? वहां सीमंधरस्वामी वर्तमान में भी विद्यमान है, तो उसने कहा कि मैंने वहां जाकर भी देखा, वहां पर भी सर्वज्ञ नहीं है। मैंने कहा तुमने सिद्धशिला पर जाकर देखा? वहां अनंत सिद्ध भगवान बिराजमान है, तो वह बोला मैंने अधोलोक देखा, मध्यलोक देखा और उर्ध्वलोक देखा, यहां तक कि अलोकाकाश भी देखा, लेकिन मुझे कहीं भी सर्वज्ञ नहीं मिले इसलिए मैं ऐसा

मानता हूं कि सर्वज्ञ की सत्ता नहीं होती है।

मैंने उसे कहा कि तुमने लोकालोक देखा, इसका अर्थ तो यह हुआ कि तु स्वयं ही सर्वज्ञ है, इसी से सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध हो गई। लेकिन उसने दलील की कि मैंने 99 प्रतिशत जगत देखा है, 100 प्रतिशत नहीं, इसलिए मैं कहता हूं कि सर्वज्ञ की सत्ता नहीं होती है। मैंने उसे कहा कि तुमने जो 99 प्रतिशत जगत देखा उसमें सर्वज्ञ नहीं है और जो एक प्रतिशत जगत नहीं देखा, वहां सर्वज्ञ है। अल्पज्ञ अवस्था में सर्वज्ञ की सिद्धि स्वयं को अल्पज्ञ माने बिना नहीं हो सकती। सर्वज्ञ की यथार्थ द्रढ श्रद्धा हुए बिना सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारुप मोक्षमार्ग प्रकट नहीं हो सकता।

एक आत्मा को जानकर सार जगत कैसे जानने में आता है?

जैसे सामान्य प्रतिभास आत्मा का स्वभाव है, वैसे विशेष प्रतिभास भी आत्मा का स्वभाव है। लेकिन सामान्य प्रतिभास और विशेष प्रतिभास में समयभेद करना आत्मा का विभाव है। छद्मस्थ जीव को पदार्थ का विशेष प्रतिभास होने से पहले सामान्य प्रतिभास होता है। जबकि केवली भगवान को लोकालोक का सामान्य और विशेष प्रतिभास एक ही समय में होता है। आत्मज्ञानी आत्मज्ञान प्रकट करके कालांतर में अंतर्मूहुर्त काल तक अविरत निर्विकल्प ध्यान के बल पर केवलज्ञानी होते है। केवलज्ञान में उन्हें एक समय में लोकालोक जानने में आता है।

निश्चय से स्वभाव के आश्रय से ही अपने पुरुषार्थ के द्वारा तत्समय की योग्यतानुसार स्वयं ही केवलज्ञान होता है। फिर भी निमित्त की अपेक्षा से केवलज्ञान का प्रागट्य इसप्रकार समझना चाहिए। आत्मज्ञानी को शुद्धोपयोग के समय उपयोग स्वभाव में स्थिर होता है, उस समय उपयोग पर में नहीं जाता। इसलिए उस संबंधी रागादिभाव का भी सहज ही अभाव होने लगता है। रागादिभाव के अभाव में वीतरागता प्रकट होती है। वीतरागता के बल पर पूर्व में बंधे हुए ज्ञानावरणादि कर्मो की भी निर्जरा होती है, ज्ञानावरणी कर्म का क्षय होते ही ज्ञान शक्ति पूर्ण रुप में प्रकट होती है और केवलज्ञान होता है। इसप्रकार एक आत्मा को जानने से सारा जगत जानने में आता है।

काया की उपस्थिति में केवलज्ञान होता है, परंतु माया की उपस्थिति में केवलज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए सर्वप्रथम माया आदि रागद्वेषरुपी कषायभावों से रहित होने का उपदेश दिया जाता है।

सिद्धों का सुख

अनादि मिथ्याद्रष्टी को सम्यग्दर्शन प्रकट होता है तब अतीन्द्रिय सुख प्रकट होता है लेकिन पूर्ण सुख नहीं। बारहवें गुणस्थान में मोह का सर्वथा अभाव होने पर पूर्ण सुख प्रकट होता है। तेरहवें गुणस्थान में अनंतज्ञान प्रकट होता है। अनंतज्ञान के साथ होनेवाले सुख को भी अनंतसुख कहते है। अरिहंत दशा प्रकट होते ही अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य (अनंत चतुष्टय) की प्राप्ति होती है। सिद्ध दशा प्रकट होते ही अव्याबाधत्व, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व और अगुरुलघुत्वादि गुण भी प्रकट होते है।

संसार में सुख नहीं है और मोक्ष में ही सुख है, इस बात का प्रमाण यह है कि आजतक अनंत जीव संसार से मोक्ष में गये तो है, लेकिन ऐसा एक भी जीव नहीं है, जो मोक्ष से संसार में वापिस आया हो।

वापिस आये भी क्यों? अनंत सुख के अमृतरुपी रस को छोडकर पांच ईन्द्रिय के विषयो की आग में गिरकर मोह-राग-द्वेष के विकारी भावरुपी जहर को पीना कौन चाहेगा?

ऐसे अनंत जीव है, जिनकी अनंत इच्छाओं का नाश हुआ है, लेकिन एक भी जीव ऐसा नहीं है कि जिसकी अनंत इच्छाओं की पूर्ति हुई हो। अज्ञानी जीव को अपनी अनंत इच्छाओं की पूर्ति करने की इच्छा होती है, अनंत सिद्ध जिस कार्य को नहीं कर सके उस कार्य को पूर्ण करना चाहता है। अज्ञानी जीव भगवान का भगवान बनने की इच्छा करता है। अरे भाई! सच्चा सुख भगवान का भगवान बनने में नहीं लेकिन भगवान बनने में है। भगवान बनने में भी क्यो?

प्रत्येक जीव त्रिकाली भगवान है। जब जीव स्वयं को त्रिकाली नित्य भगवान जानता है, मानता है, उस रुप परिणमित होता है तब पर्याय में भी भगवान होता है।

जैसे गेस भरे हुए गुब्बारे को एक कुर्सी से बांधकर रखने पर वे गुब्बारे उपर नहीं जाते। जब वे गुब्बारे वजनदार कुर्सी से छुटकर अलग होते है तब वे सहज ही उपर जाकर अटक जाते है। ऐसे ही आत्मा भी मोह-राग-द्वेष के विकारी भाव और आठ कर्मो के बंधन में फंसा हुआ है, जब आत्मा भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म से रहित होता है तब सहज ही लोक के अग्रभाग पर सादि-अनंतकाल तक बिराजमान होता है।

क्षणिक के बोध का बल

क्षणिक का बोध मात्र निर्विकल्प आत्मानुभूति प्रकट होने का कारण नहीं होता लेकिन जीव को साधु, अरिहंत और सिद्ध दशा प्रकट करने में भी महान कारण है।

श्रीमद भगवत कुंदकुंददेवादि भावलिंगी साधु को वर्तमान में यहां लाये नहीं जा सकते और जिनका गृहित मिथ्यात्व भी न छूटा हो ऐसे मिथ्याद्रष्टी कुगुरु को भावलिंगी साधु मान नहीं सकते। एक कार्य ऐसा है जो इस काल में संभव है, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की यथार्थ प्रतीति करके, सात तत्त्व की सच्ची द्रढ श्रद्धा करके, स्व-पर का भेदविज्ञान करके, निर्विकल्प आत्मानुभूति के बल पर परिणति की शुद्धि से भावलिंगी साधु हो सकते है। क्योंकि आगम में पंचमकाल के अंत तक इस भूमि पर भावलिंगी साधु का अस्तित्व कहा है। इस काल में साधुपना होता ही नहीं, ऐसा माननेवाला जिनागम को समझा ही नहीं है।

भूतकाल में ऐसे अनेक ज्ञानियों को जगत के क्षणिकपने का बोध हुआ था, चहेरे पर एक करचली देखने मात्र से बोध हुआ कि जबानी क्षणिक है, ऐसे ही सारा जगत क्षणिक है, वे क्षणिक जगत को छोडकर

त्याग और वैराग्य के पथ पर चल गये। आकाश के बादलो में राजमहल देखने के बाद क्षणभर में राजमहल बिखर जाता है, ऐसे वर्तमान में पुण्य के उदय से मिला हुआ राजमहल भी क्षणिक है, ऐसा सोचकर एक पल भी राजमहल में नहीं ठहरते और त्याग और वैराग्य के पथ चलने लगते है, किसी जीव को सिर पर एक सफेद बाल दिखते ही जवानी के क्षणिकपने बोध होता है, जवानी जानेवाली है, यह सोचकर वे क्षणिक जगत को त्याग करके नित्य आत्मा के आश्रय के कारण मुक्त होते है और किसी जीव को सिर पर सभी बाल सफेद आने के बाद भी क्षणिकपने का बोध नहीं होता है।

यहां तक कि सफेद हुए बाल काले करने के भाव आते है, जिससे भूल से भी वैराग्य न आ जाये। सफेद बाद काले करते करते मुंह काला हो जाता हो, फिर भी वे उसकी चिंता नहीं करते। ऐसे जीवों को क्षणिक का बोध कैसे हो? नित्य का अनुभव तो उन जीवों के लिए अति दूर है।

भाई! जिस जीव के संसार सागर का किनारा नजदीक होता है, उसी जीव को क्षणिक का बोध होता है, उसी जीव को क्षणिक का बोध होने के कारणभूत निमित्त का योग भी सहज होता है। जिस जीव को संसार के बीच रहकर डुबना होता है, उसे आधाररुप सच्चे देव-शास्त्र-गुरु आदि सदनिमित्त भी नहीं मिलते। जिस जीव की जैसी होनहार होती है, उस जीव को उसरुप परिणति परिणमित होती है।

विशेष क्या कहना? शब्दों का लेखन और पाठन भी क्षणिक है। इसलिए लेखन और पाठन भी कहां तक?

प्रत्येक जीव प्रतिक्षण परिणमित होते जगत के क्षणिक स्वरुप को समझकर क्षणिक का बोध करे। भोगवृत्ति को हेय जानकर त्याग भाव को उपादेय जानकर पंचेन्द्रिय के विषयों से विरक्त होकर नित्य आत्मा का आश्रय लेकर नित्य के अनुभव के बल पर शीघ्रातिशीघ्र मुनिधर्म अंगीकार कर अनंतकाल तक स्थिरतारुप मुक्ति को पावे, यही पावन भावना।

आदर्श ज्ञानी

01. श्री आदिनाथ भगवान जैसी अचलता प्राप्त हो।
02. श्री महावीर भगवान जैसी वीरता प्राप्त हो।
03. श्री गौतमस्वामी जैसा ज्ञान प्राप्त हो।
04. श्री भरतजी जैसा निर्लेपीपना प्राप्त हो।
05. श्री बाहुबलीजी जैसी स्थिरता प्राप्त हो।
06. श्री कुंदकुंदाचार्य जैसी शुद्धि प्राप्त हो।
07. श्री अमृतचंद्राचार्य जैसी अनुभूति प्राप्त हो।
08. श्री उमास्वामी जैसी बुद्धि प्राप्त हो।
09. श्री जयसेनाचार्य जैसी द्रष्टि प्राप्त हो।
10. श्री पूज्यपाद स्वामी जैसी समाधि प्राप्त हो।
11. श्री समंतभद्राचार्य जैसी युक्ति प्राप्त हो।
12. श्री मानतुंगाचार्य जैसी भक्ति प्राप्त हो।
13. श्री अकलंकाचार्य जैसा न्याय प्राप्त हो।

14. श्री पं. बनारसीदासजी जैसी मस्ती प्राप्त हो।
15. श्री पं. टोडरमलजी जैसी मति प्राप्त हो।
16. श्री राजचंद्रजी जैसी परिणति प्राप्त हो।
17. श्री गुरुदेव कानजीस्वामीजी जैसी प्रतीति प्राप्त हो।
18. श्री नेहालचंदजी सोगानीजी जैसा पुरुषार्थ प्राप्त हो।